हिन्दू धर्म की रिडल

डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर

हिन्दू धर्म की रिडल

RIDDLES IN HINDUISM

हिन्दू धर्म की रिडल
RIDDLES IN HINDUISM

वेदों की रिडल
देवी-देवताओं की रिडल
कलियुग की रिडल
राम तथा कृष्ण की रिडल

लेखक : डॉ. बी.आर. अम्बेडकर

अनुवाद : डॉ. भदन्त आनंद कौसल्यायन

गौतम बुक सेन्टर
दिल्ली-110093

हिन्दू धर्म की रिडल

ISBN : 81-87733-83-7

गौतम बुक सेन्टर
C-263 ए, 'चन्दन सदन'
गली नं.-9, हरदेवपुरी,
शाहदरा दिल्ली-110093
फोन : 011-22810380, 65822074

पंचम आवृति : दिसम्बर 2008

मूल्य : 60.00

गौतम ग्राफिक्स
दिल्ली, द्वारा लेजर टाइपसेटिंग

बालाजी आफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली
द्वारा मुद्रित

HINDU DHARMA KI RIDDLES

By Dr. Bhadhant Anand Koslyayan
Dr. Bhimrao Ambedkar

समर्पण

उन महानायक दलित क्रांतिकारियों को

जो सदैव ही हिन्दू धर्म द्वारा थोपे गए

वर्णवाद, जातिवाद, रुढ़िवाद, भाग्यवाद, परलोक की चाहत,

पाखण्डी परपंच और अंधविश्वास के विरुद्ध

संघर्ष करते हुए अपने प्राण न्यौछावर कर दिये

विषय-सूची

हिन्दू धर्म की रिडल

दो शब्द

आधुनिक युग में शायद ही कोई इतनी अधिक 'अहिंसक' पुस्तक हो जिसने इतना अधिक हो—हल्ला मचाया हो, जितना हिन्दू-धर्म की इन 'रिड्डल्ज' में। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। एक कारण इन पंक्तियों के विनम्र लेखक की सम्मति में यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार हमारे देश का 'सेकुलरिज्म' बहुत ही कम लोगों की समझ में आया है, उसी प्रकार इस पुस्तक का 'रिड्डल्ज' या तो बहुत ही कम लोगों की समझ में आया है, या इस पुस्तक के पक्ष और विपक्ष में संघर्ष करने वाली मण्डली में से किसी की भी समझ में नहीं आया?

मुझे स्वयं इस शब्द को समझने में कठिनाई हुई। मेरी लिखने-पढ़ने की भाषा हिन्दी ही है। इसलिए कभी मैंने समझा कि यह पुस्तक हिन्दू-धर्म की टीका है। स्वयं टीका शब्द भी हिन्दी में उभयार्थी है। इसका अर्थ व्याख्या भी हो सकता है और आलोचना भी हो सकता है। फिर समझा कि हो सकता है बाबा साहेब ने 'रिड्डल्ज' को शंकाओं का पर्याय माना हो। फिर तो सोचा कि जिसके अपने मन में इतनी अधिक शंकाएं होंगी, वह अपने हाथ में लेखनी लेगा ही क्यों? तब 'रिड्डल्ज' को आखिर क्या समझा जाए? मुझे लगता है कि 'रिड्डल्ज' शब्द अपने में एक 'रिडल' है। अच्छा होता कि भारतीय-भाषाओं के पाठकों के लिए बाबा साहेब ने कहीं-न-कहीं इसका समाधान कर दिया होता।

जिस प्रकार 'लाठी' शब्द हिंदी का एक ऐसा सुपरिचित शब्द है कि उसने अंग्रेजी कोषों में भी अपना स्थान बना लिया है। उसी प्रकार 'रिड्डल्ज' शब्द भी आज सभी भारतीय भाषाओं का एक ऐसा नया शब्द अंगीकृत हो गया है जिसका कदाचित् अनुवाद करने की आवश्यकता नहीं।

साहित्य की अनेक विधाएं हैं। एक विधा पहेलियां या बुझौवल भी है। नमूने के लिए एक पहेली है कि 'एक मुर्गा चलते-चलते थक गया। सिर जो काटा उसका फिर चलने लग गया।' इस पहेली या बुझौवल का समाधान है 'कलम', आजकल की कलम नहीं, पुराने जमाने की कलम या पेंसिल जिसके घिस जाने पर चाकू से बनाना पड़ता था।

बहुत सोचने पर मुझे लगा है कि कहीं यह सारी पुस्तकें कुछ साहित्यिक पहेलियों का ही संग्रह तो नहीं हैं जिनके माध्यम से बाबा साहेब ने अपने पाठकों के साथ एक उच्चस्तरीय साहित्यिक होली खेली हो।

बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर की यही पुस्तक कोई पहली पुस्तक नहीं है। पचासों पुस्तकें हैं और जब भी कोई पुस्तक छपी है, प्रायः हर पुस्तक में हर पाठक को कुछ-न-कुछ नयी बात पढ़ने को मिली है। एक यही पुस्तक इतनी अधिक खींचातानी का कारण क्यों बनी? पुस्तक या पुस्तक का एक अंश जलाया गया, मोर्चे निकले और पदयात्राएं आयोजित की गयीं। अब इस पुस्तक के मूल अथवा इसके किसी भी भाषा में छपने वाले अनुवाद के प्रकाशक को पुस्तक के प्रचार की दिशा में कुछ भी करने को शेष नहीं रहा।

जिन लोगों ने पुस्तक का स्वागत किया है, भले ही पढ़कर किया हो, भले ही बिना पढ़े किया हो, उनसे हमें कुछ नहीं कहना है। इन पंक्तियों के लेखक ने तो एकाधिक बार पढ़ा। जिन मित्रों ने इसका विरोध किया है, हम उनकी दृष्टि समझने का प्रयास करें।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सरसंचालक श्री देवरस से मैं स्वयं मिलने गया था। उन्होंने कहा—'मैंने अभी तक पुस्तक पढ़ी ही नहीं। उस पर अपना कोई मत भी व्यक्त नहीं किया।' बात खतम हो गयी।

पूर्व-पक्षी विरोधियों की एक से अधिक शिकायतें हो सकती हैं और हैं—

एक तो उनकी शिकायत है कि बाबा साहेब ने हिन्दू धर्म के बारे में ऐसे विचारों को अपने मन में जगह ही क्यों दी? उत्तर है—जैसे आप किसी भी संबंध में किन्हीं विचारों को अपने मन में जगह देने में स्वतंत्र हैं वैसे ही एक बाबा साहेब क्या, प्रत्येक मानव स्वतंत्र है।

दूसरी आपत्ति हो सकती है कि वे उन विचारों को अपने मने में संजोये रख सकते थे, उन्होंने लिखकर उन्हें व्यक्त क्यों किया? यदि किसी को सामाजिक हित की कोई बात सूझे तो यह उसका सामाजिक कर्तव्य है कि वह उसे बोलकर या लिखकर समाज तक पहुंचाये।

एक चिंतक के नाते बाबा साहेब स्वतंत्रतापूर्वक सोचने के लिए स्वतंत्र थे। एक समाज-सुधारक के नाते अपने उन विचारों को वाणी और कलम के माध्यम से व्यक्त करने के लिए बाध्य थे। यदि बाबा साहेब ने ऐसा न किया होता, तो समाज की कितनी बड़ी हानि हुई होती?

आखिर इस पुस्तक में पहेलियों या बुझौवलों के माध्यम से बाबा साहेब ने क्या कहा है? अपने पहले निबन्ध में बाबा साहेब ने बताया है कि जैसे किसी भी आदमी के लिए किसी भी कठिन पहेली का बूझना मुश्किल होता है, वैसे ही किसी भी हिन्दू के लिए यह बता सकना आसान नहीं कि वह हिन्दू क्यों है? ठीक बात है, यदि इस पहेली का बूझना आसान होता तो वीर सावरकर और लोकमान्य तिलक तक को 'हिन्दू' की यह परिभाषा स्वीकार न करनी पड़ती कि भारतोत्पन्न प्रत्येक धर्म का अनुयायी हिन्दू है। भारतोत्पन्न प्रत्येक नागरिक भारतीय या हिंदू भी हो सकता है, किंतु वह किसी भी एक या सभी भारतोत्पन्न धर्मों का मानने वाला कैसे हो सकता है, और वह केवल इसीलिए अपने को 'हिन्दू' कैसे मान सकता है? धर्म की परिभाषा धार्मिक होनी चाहिए, न कि भौगोलिक।

दूसरी पहेली से नौवीं पहेली तक सभी पहेलियां 'वेद' संबंधी हैं। वेदों के बारे में प्रत्येक पढ़े-लिखे भारतीय की ही नहीं, प्रत्येक विद्वान की यह मान्यता है कि वे प्राचीन भारतीय समाज का अत्यन्त ईमानदारी से किया गया सामाजिक चरित्र-चित्रण हैं। बाबा साहेब ने इसी दृष्टि से उनका अध्ययन उपस्थित किया है। अब यदि किसी की मान्यता हो, वे मनुष्य-कृत नहीं हैं, वे ईश्वरकृत हैं अथवा वे ईश्वरकृत भी नहीं हैं, क्योंकि वे कृत नहीं हैं, वे केवल श्रुत हैं तो इन स्थापनाओं को उपस्थित करना या सिद्ध करना उनका काम है, जिनकी वे स्थापनायें हैं। बाबा साहेब ने उन सभी स्थापनाओं की शास्त्रोक्त विधि से शास्त्रीय चर्चा की है, स्वयं वेदों के उद्धरण दिए हैं, ब्राह्मण-ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं, उपनिषदों के उद्धरण दिये हैं, स्मृतियों के उद्धरण दिये हैं और पुराणों के उद्धरण दिये हैं। प्राचीन भारतीय वाङ्मय के प्रेमियों को सचमुच बाबा साहेब का कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने अपने ग्रन्थ में तत्संबंधी पहेलियों का संग्रह कर न जाने कितने विद्यार्थियों का ध्यान अपने प्राचीन वाङ्मय की ओर आकर्षित किया है। अन्यथा आजकल प्राचीन वाङ्मय को पढ़ता ही कौन है? अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे लोग न चारों वेदों का नाम ले सकते हैं, न त्रिपिटिक के तीनों पिटकों का और न आगमों के ग्रन्थों का।

ग्यारहवीं पहेली से सोलहवीं पहेली तक चार पांच पहेलियां देवी-देवताओं संबंधी हैं और हमारे धार्मिक संघर्षों में जो अहिंसा और हिंसा की अजीब खिचड़ी पकी है, इन पहेलियों के माध्यम से उसकी थोड़ी बानगी चखाई गई है। हमी अपने प्राचीन धार्मिक इतिहास से अपरिचित हों और कोई नई बात इसलिए अनोखी लगती हो कि वह प्रथम बार सुनी गई है, तो कोई क्या कर सकता है? ईसाई लोग जब यहूदियों में ईसाइयत का प्रचार करने लगे तो उन्होंने कहा कि ईसा खुदा का बेटा था। यहूदियों ने पूछा कि खुदा की शादी कब हुई थी? किससे हुई थी? और यदि शादी नहीं हुई थी, तो बेटा कैसा?

हमारे प्राचीन वाङ्मय का अध्ययन करते समय यदि किसी के मन में कोई शंकायें उत्पन्न हों और वह उनको लिपि-बद्ध कर दे कि कोई-न-कोई उनका शङ्काओं में से या तो सभी के संबंध में या एक-एक के भी संबंध में कभी-न-कभी अपना समाधान उपस्थित करेगा या कर सकेगा, तो इसमें किसी का भी कुछ तो अपराध नहीं।

17 से 21 तक पूर्वोक्त पहेलियों के परिशिष्ट हैं, जिनमें एक प्रकार से वे ही बातें दोहरायी गई हैं जो मूल-पहेलियों में हैं। ऐसा लगता है कि अपने निबंधों को विस्तृत रूप देने के लिए बाबा साहेब ने पहले कुछ 'नोट' तैयार किए होंगे। वे ही अपने विस्तृत रूप में 'रिड्डल्ज' के रूप में साकार हुए हैं। यदि बाबा साहेब स्वयं इस पुस्तक को अंतिम रूप देते तो पता नहीं, इन परिशिष्टों को वे देते या नहीं देते? राम, कृष्ण वाले परिशिष्ट को तो वे रहने ही देते, क्योंकि वे तो हमारे धार्मिक इतिहास की सचमुच दो बड़ी पहेलियां हैं।

22 वीं पहेली से लेकर 26 वीं पहेली तक की चार-पांच पहेलियों का संबंध बहुसंख्यक समाज के प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से तथा सामाजिक संगठन से संबंधित है। भारतीय संविधान के शिल्पी बाबा साहेब का दृष्टिकोण यदि सोलह आने

प्रजातंत्रात्मक नहीं होगा तो किसका होगा? उन्होंने वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म पर इसी दृष्टि से विचार किया है और कहा है कि वर्णाश्रम-धर्म प्राचीन समय में भी समय-बाह्य रहा है और इस समय तो सर्वथा समय-बाह्य **Out of date** हो गया है। ये आवश्यक नहीं कि कोई भी व्यक्ति बाबा साहेब के इस मत से असहमत न हो। भिन्न मत रखने वाले, भिन्न विचार रखते हैं, भिन्न मत रखते ही नहीं हैं, उन्हें व्यक्त भी करते ही हैं। क्या आप समझते हैं कि उनके उस व्यक्तीकरण से किसी की भी भावनाओं को ठेस नहीं पहुंचती?

बाबा साहेब ने किसी की भी व्यक्तिगत आलोचना नहीं की। चाहे उपनिषद के ऋषि हों, चाहे स्मृतियों के मुनि हों और चाहे अर्वाचीन युग के आचार्य हों, सभी के ऐसे ही विचारों की टीका की है, जिनका समाज के हिताहित से संबंध रहा है।

एक विचार न जाने कैसे घर-घर व्याप्त हो गया है। चारों वेदों के नाम कोई हिन्दू जाने या न जाने, चारों युगों के नाम अवश्य जानता है और यह मानता है कि सत्युग में धर्म अपने चारों पांवों पर टिका हुआ था, अब कलियुग में तो वह नाम-शेष रह गया है। जो बीत गया है, उसकी आरती उतारते रहने से क्या लाभ? जो भी कुछ हो सकता है, या कोई कर सकता है, वह भविष्य के लिए ही किया जा सकता है। पहली बात तो यह कि यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो हमारे पास ऐसा कोई साहित्य नहीं जो यह प्रमाणित कर सके कि हम भूत-काल में कुछ बहुत अच्छे थे और कलियुग के प्रभाव से वर्तमानकाल में ही हमारा ह्रास हो रहा है। हमें तो ऐसा लगता है कि वर्तमानकाल में ही हम अपने नैतिक मूल्यों के प्रति सजग हो रहे हैं और हमें निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं।

किसी भी अकेली एक पहेली को नहीं, अंतिम चारों पहेलियों के एक परिशिष्ट को, जिसे राम और कृष्ण की पहेली का नाम दिया गया है, आलोचकों ने अपनी आलोचना का ही नहीं, सारे विरोधी आंदोलन का केंद्र-बिंदु बनाया। बाबा साहेब का न कहीं किसी 'राम' ने और न कहीं किसी 'कृष्ण' ने कुछ बिगाड़ा था। बाबा साहेब के पिता बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति के थे। बचपन में उन्होंने रामायण और महाभारत की कथाएं बहुत सुनी थीं। बड़े होने पर यदि उनके मन में उन शास्त्र-सम्मत राम और कृष्ण को लेकर कोई शंका पैदा हो गई हो, कोई ऊहापोह उपस्थित हो गई हो, कोई पहेली आ खड़ी हुई हो तो बाबा साहेब क्या कर सकते थे? बाबा साहेब की जो कठिनाई रही है वह यही है कि वे—

1. पेड़ की आड़ में छिपकर बाली का वध करने वाले 'राम' को अपना आराध्यदेव नहीं मान सकते।

2. जिसके भाई लक्ष्मण ने शूर्पनखा के नाक-कान काट डाले थे, उस 'राम' को वे अपना आराध्यदेव नहीं मान सकते थे।

3. दो-दो बार अग्निपरीक्षा लेकर भी सीता को त्याग देने वाले 'राम' को वे आराध्यदेव नहीं मान सकते।

4. तपस्या कर रहे शम्बूक को केवल इसलिए कि वह शूद्र था और तपस्या कर

रहा था, मार डालने वाले 'राम' को वे अपना आराध्यदेव नहीं मान सकते थे।

कुछ ऐसी ही कठिनाई बाबा साहेब के मन में भगवान 'कृष्ण' को लेकर पैदा हुई—

1. पूतना नाम की स्त्री को बचपन में ही जान से मार डालने वाला 'कृष्ण' उनका 'भगवान' नहीं हो सकता था।

2. स्नान कर रही गोपियों के कपड़े उठा ले जाने वाला और उन्हें नग्नावस्था में बाहर आने के लिए मजबूर करने वाला 'कृष्ण' उनका 'भगवान' नहीं हो सकता था।

3. रुक्मिणी का त्याग कर राधा के साथ रमण करने वाला 'कृष्ण' उनका 'भगवान' नहीं हो सकता था।

बाबा साहेब तो अब नहीं रहे। वे कुशाग्र तार्किक भी थे। यदि वे आज हमारे बीच होते तो अपने आलोचकों को कहते—हमें तुम्हारे 'राम' और 'कृष्ण' स्वीकृत हैं। हमारी आपत्ति राम-विशेष को लेकर है और कृष्ण को लेकर भी। आप वाल्मीकि के रामायण और व्यास के महाभारत और भागवत में से ऐसे सब आपत्तिजनक प्रकरणों को प्रक्षिप्त मानकर उनके संशोधित संस्करण निकलवाएं। हम इस प्रयास का हृदय से स्वागत करेंगे।

हमारी आने वाली पीढ़ी के हित में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सेवा-कार्य होता।

बाबा साहेब राम-विशेष के विरुद्ध थे, कृष्ण-विशेष के विरुद्ध थे, कुछ राम और कृष्ण के नहीं।

अंग्रेजों के राज्य में हमारे देश में केवल दो तरह के चुनाव-क्षेत्र होते थे, मुस्लिम और गैर-मुस्लिम। अकेले मुसलमानों को छोड़कर शेष जितने भी भारतीय थे, वे सभी गैर-मुस्लिम थे। कम्युनिस्टों का कहना है कि सारा समाज दो वर्गों में बंटा है—पूंजीवादी वर्ग और किसान-मजदूर वर्ग। आधुनिक भारतीय समाज को समझने के लिए शायद यह जरूरी है कि हम समाज के दो वर्ग स्वीकार करें—

(1) हिन्दू (2) गैर-हिन्दू। हिन्दुओं का दृष्टिकोण है कि सभी गैर-हिन्दू—वे मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख, पारसी, जैन, बौद्ध कुछ भी हों—उनके विरोधी हैं। उन्हें एक-एक करके सभी से खतरा है। गैर-हिन्दुओं का दृष्टिकोण है कि हिन्दू सभी गैर-हिन्दुओं के साथ यथायोग्य व्यवहार नहीं करते, किसी की छाया से भागते हैं, किसी का स्पर्श नहीं करते, किसी के हाथ का चाय-पानी नहीं पीते, किसी के साथ शादी-ब्याह नहीं करते।

आज हिन्दुओं और गैर-हिन्दुओं को परस्पर एक दूसरे को समझने की नितांत आवश्यकता है। राजनीति की भाषा में निःसन्देह अकेले हिन्दू किसी भी दूसरे अकेले गैर-हिन्दू की अपेक्षा बहुसंख्यक हैं और हर गैर-हिन्दू वर्ग अल्पसंख्यक है। किन्तु यदि सभी गैर-हिन्दू अपने इतिहास, अपनी मान्यताओं, अपने संगठनों पर उदार दृष्टिकोण से विचार करें और मिलजुलकर एक दूसरे की समस्याओं का हल खोजने का प्रयास करें तो न तो हिन्दू-वर्ग की बहुसंख्यक चेतना सही उतरेगी और न गैर-हिन्दुओं को अपने आपको अल्पसंख्यक मानते रहने की जरूरत पड़ेगी।

मेरी मान्यता है कि बाबा साहेब का यह ग्रंथ 'रिड्डल्ज' हिन्दुओं और गैर-हिन्दुओं

दोनों के लिए ही बड़े काम का ग्रन्थ है। जैसे आईने में किसी को अपना चेहरा साफ-साफ दिखाई देता है, वैसे ही हिन्दू-भाइयों के लिए यह ग्रन्थ एक आईने का काम देगा और गैर-हिन्दुओं के लिए भी हिन्दू धर्म का प्रामाणिक परिचय प्राप्त करने के लिए इससे बढ़कर कोई ग्रन्थ मिलना दुर्लभ है। बाबा साहेब ने यह ग्रन्थ लिखकर हिन्दुओं और गैर-हिन्दुओं दोनों को उपकृत किया है।

हम सभी महाराष्ट्र सरकार के विशेष कृतज्ञ हैं कि उसने बाबा साहेब के भाषणों और उनके ग्रन्थों को अविकल रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया है।

अंग्रेजी में लिखा-छपा होने से यह ग्रन्थ सामान्य जनों तक नहीं ही पहुंच सकता है, सोच इन 'रिड्डल्ज' को हिन्दी जामा पहना दिया गया है। मूल अंग्रेजी के ऐसे उद्धरणों को जिनकी पुनरुक्ति हुई है, इस अनुवाद में एकदम छोड़ दिया गया है उनके महत्त्वपूर्ण अंशों का ही अनुवाद में समावेश कर लिया गया है।

यह हिन्दी अनुवाद मूल अंग्रेजी पुस्तक के समान बोझिल नहीं ही रहा है। अब इसके सभी परिच्छेद देखने में छोटे लगते हैं किन्तु भाव की गंभीरता में कहीं कोई अन्तर नहीं पड़ा है।

पुस्तक का मुद्रण-भार वहन करने के लिए जिन्होंने बड़ी सहायता दी उन सबकी इच्छा है कि उनके नाम का उल्लेख न किया जाय। मैं सभी दाताओं का नामोल्लेख किए बिना उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हूं। उन्हें इस पुनीत कार्य में सहयोगी बनने का पुण्य लाभ हो।

–डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन

शुभेच्छा :
बुद्ध-पूर्णिमा
1 मई, 1988

परिचय

जिसे हम ब्राह्मणी देववाद कह सकते हैं उसके द्वारा जो विश्वास प्रतिपादित किए जाते हैं, यह पुस्तक उन मतों का परदा फाश करती है। यह सर्वसामान्य हिन्दुओं के लिए लिखी गई है ताकि वे जाग जाएं और देखें कि ब्राह्मणों ने उन्हें किस गोरख धन्धे में फंसा रखा है। यह पुस्तक उन्हें बुद्धिवादी चिन्तन की सड़क पर आगे बढ़ाने के लिए है।

ब्राह्मणों ने इस मत का विचार किया है कि हिन्दू सभ्यता सनातन है, अर्थात् अपरिवर्तनशील है। इस मत का समर्थन बहुत से यूरोपीय पण्डितों ने भी किया है, जिनका कहना है कि हिन्दू सभ्यता स्थिर है। इस पुस्तक में मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि यह मत वास्तविकता से मेल नहीं खाता और कि हिन्दू समाज समय-समय पर बदलता रहा है और बहुधा अत्यन्त क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। इस संबंध में हिंसा से अहिंसा की ओर और पुनः अहिंसा से हिंसा की ओर रिडल्ज की तुलना करें। मैं चाहता हूं कि जो हिन्दुओं का सर्वसाधारण समाज है, वह इस बात को हृदयङ्गम कर ले कि हिन्दू धर्म सनातन नहीं है।

इस पुस्तक के लिखे जाने का दूसरा उद्देश्य है कि सामान्य हिन्दू समझे कि ब्राह्मणों ने उन्हें किन-किन तरीकों से ठगा है और उन्हें पथ-भ्रष्ट किया है।

यह स्पष्ट हो जाएगा कि ब्राह्मण किस प्रकार बदले हैं और उन्होंने किस प्रकार अपने रास्ते बदले हैं। एक समय आया जब उन्होंने अपने वैदिक देवताओं का परित्याग कर दिया और उनकी बजाय अवैदिक देवताओं को पूजने लगे। कोई उनसे पूछ सकता है कि इन्द्र कहां है, वरुण कहां है, ब्रह्म कहां है, मित्र कहां है—वेदों में वर्णित देवतागण? वे सब अदृश्य हो गए। और क्यों? क्योंकि इन्द्र, वरुण, ब्रह्म की पूजा फायदे की बात न रही। ब्राह्मणों ने अपने वैदिक देवताओं का ही परित्याग नहीं किया, कहीं-कहीं वे मुस्लिम पीरों तक के पुजारी बन गए हैं। बंबई के पास कल्याण में एक पहाड़ी के शिखर पर बाबा मलंगशाह के नाम से प्रसिद्ध एक पीर की दरगाह है। यह बहुत प्रसिद्ध दरगाह है। हर वर्ष यात्रा भरती है और भेंट चढ़ाई जाती है। जो आदमी दरागाह पर पुजारी बनकर बैठता है, वह एक ब्राह्मण है। वह वहां बैठता है। मुसलमानों के कपड़े पहनता है और दरगाह पर जो चढ़ावा चढ़ता है, उसे बटोरता है। यह सब वह रुपए के लिए करता है। धर्म या अधर्म कुछ भी हो, ब्राह्मण को दक्षिणा चाहिए। वास्तव में ब्राह्मणों ने धर्म को एक धन्धा

और व्यापार बना रखा है। जरा ब्राह्मणों की इस श्रद्धाविहीनता की तुलना यहूदियों की अपने देवताओं के प्रति भक्ति और विश्वास के साथ कीजिए। समय था कि उनके विजेता नेबुशादनेजर ने यहूदियों को अपना धर्म छोड़ने और उसका अपना धर्म अपनाने के लिए कहा। ईसाइयों के पूर्वविधान में है–

'राजा नेबुशादनेजर ने सोने का एक बुत बनवाया था, जिसकी ऊंचाई साठ हाथ की थी और चौड़ाई छह हाथ की। उसने उसे बैबिलान प्रदेश के दरा मैदान में खड़ा किया।

'नेबुशादनेजर राजा ने सभी राजकुमारों, सभी शासकों, सभी कप्तानों, सभी न्यायाधीशों, सभी कोषाध्यक्षों, सभी सदस्यों तथा सभी शासनाधिकारियों को, तथा प्रान्तों के सभी शासकों को आज्ञा दी कि जिस बुत की राजा नेबुशादनेजर ने स्थापना की है उसके पूजा के लिए आएं।

'तब सभी राजकुमार, शासक, कप्तान, न्यायाधीश, कोषाध्यक्ष, सदस्य गण, शासनाधिकारी और प्रान्तों के सभी शासक इकट्ठे किए गए राजा नेबुशादनेजर द्वारा बुत की पूजा करने के लिए और वे राजा नेबुशादनेजर द्वारा स्थापित बुत के सामने आ खड़े हुए।

तब एक उद्घोषक जोर से चिल्लाया–

'तुम्हें यह आज्ञा दी जा रही है, ऐ लोगों, ऐ जातियों, ऐ भाषायें बोलने वालों–

'कि जिस समय तुम कारनेट बाजे की आवाज सुनो, बांसुरी की आवाज सुनो, वीणा की आवाज सुनो, बीन की आवाज सुनो, सारंगी की आवाज सुनो, और किसी भी तरह के संगीत की आवाज सुनो, तुम्हें नीचे लेट जाना होगा और राजा नेबुशादनेजर ने जो सोने का बुत बनवाया है, उसकी पूजा करनी होगी।

'और जो कोई नीचे गिरकर पूजा नहीं करेगा, वह उसी समय जलते हुए चूल्हे में झोंक दिया जाएगा।'

इसलिए जिस समय भी सभी लोगों ने कारनेट, बांसुरी, वीणा, बीन, सारंगी, डलसिमेर और दूसरे किसी भी तरह के संगीत की आवाज सुनी तो सभी लोग, सभी जातियां और सभी भाषाएँ बोलने वाले नीचे गिर पड़े और उन्होंने उस सुनहरी बुत की पूजा की जिसे राजा नेबुशादनेजर ने बनाया था।

उसी समय चाल्डा के कुछ नागरिक पास आए और उन्होंने यहूदियों पर दोषारोपण किया। वे बोले और उन्होंने राजा नेबुशादनेजर को कहा–

'राजन! चिरंजीवी हों।'

'राजन्! आपने एक घोषणा की है कि जो कोई कारनेट, बांसुरी, वीणा, बीन, सारंगी, डलसिमेर और दूसरे किसी भी तरह के संगीत की आवाज सुने, उसे चाहिए कि वह गिर पड़े और सुनहरी बुत की पूजा करे।'

'और जो नीचे नहीं गिरेगा और पूजा नहीं करेगा उसे जलते चूल्हे में झोंक दिया जाएगा।

'कुछ यहूदी हैं जिन्हें आप ने बैबिलान का अधिकारी बनाया है। उनके नाम हैं शादराक, मेशाक तथा अबेदनेगो। राजन्! ये आदमी आपका सम्मान नहीं करते। वे आपके देवताओं की सेवा नहीं करते। वे आपके रखे हुए सुनहरी बुत की भी पूजा नहीं करते।'

तब नेबुशादनेजर ने अपने क्रोध और गुस्से में आज्ञा दी कि शादराक, मेशाक तथा

अबेदनेगो तीनों आदमियों को लाकर साने उपस्थित किया जाए। तब वे उन आदमियों को राजा के सामने ले आए।

नेबुशादनेजर बोला और उसने उन्हें कहा–

'हे शादराक, मेशाक और अबेदनेगो, क्या यह सत्य है कि तुम मेरे देवताओं को नहीं मानते? जिस सुनहरी बुत को मैंने स्थापित किया है, तुम उसकी पूजा भी नहीं करते?'

'अब यदि तुम्हारी यह तैयारी हो कि तुम जैसे ही कारनेट, बांसुरी, वीणा, बीन, सारंगी, डलमिसेर और किसी दूसरे संगीत की आवाज सुनो, तुम नीचे गिर जाओ और जिस बुत को मैंने बनवाया है, उसकी पूजा करो, तो अच्छा है। लेकिन यदि तुम पूजा नहीं करोगे, तो तुम्हें उसी समय जलते हुए चूल्हे में झोंक दिया जाएगा। तब मैं देखूंगा कि तुम्हारा वह कौन देवता है जो तुम्हें मेरे हाथों से संरक्षण प्रदान करेगा?'

शादराक, मेशाक और अबेदनगो ने उत्तर दिया,

'हे नेबुशादनेजर! हम आपको उत्तर देने की जरूरत नहीं समझते।

'लेकिन यदि ऐसा ही हुआ तो हमारा वह भगवान जिसकी हम पूजा करते हैं, हमें चूल्हे की आग से बचा सकता है और हमें तुम्हारे हाथ से भी छुड़ा सकता है।

'यदि ऐसा न भी हो तो भी, हे राजन्! तुम यह बात जान लो कि न तो हम तुम्हारे देवताओं को मानेंगे और न उस सुनहरी बुत को पूजेंगे, जिसे तुमने स्थापित किया है।'

तब नेबुशादनेजर को बहुत क्रोध आया। उसकी शक्ल बदल गई। उसने आज्ञा दी कि सामान्य रूप में चूल्हा जितना गर्म किया जाता है, उससे सात गुणा अधिक गर्म किया जाय।

और उसकी सेवा में जो सबसे शक्तिशाली आदमी थे, ऐसे आदमियों को उसने आज्ञा दी कि वे शादराक, मेशाक तथा अबेदनेगो तीनों जनों को बांधें और उन्हें जलते चूल्हे में झोंक दें।

उन्होंने उन तीनों जनों को उन्हीं के कपड़ों में बांधा और जलते चूल्हे में झोंक दिया।

इसलिए क्योंकि राजाज्ञा का तुरन्त पालन किया जाना था और चूल्हा अत्यन्त गर्म था, तो चूल्हे की आग की लौ ने उन आदमियों को भी समेट लिया जो उन तीनों आदमियों को जलते चूल्हे में झोंकने ले गए थे। ये तीनों आदमी जलते हुए चूल्हे में जा गिरे।'

क्या भारत के ब्राह्मण अपने देवताओं के प्रति तथा अपने धर्म के प्रति ऐसी दृढ भक्ति का प्रदर्शन कर सकते हैं?

बकल ने अपनी 'सभ्यता का इतिहास' पुस्तक में लिखा है–'यह स्पष्ट ही है कि जब तक सन्देह ने जन्म नहीं लिया, प्रगति का होना असंभव था। क्योंकि हमने स्पष्ट तौर पर देख लिया है कि सभ्यता की प्रगति मानव-बुद्धि के द्वारा प्राप्त किए गये ज्ञान पर ही निर्भर करती है। वह उस बात पर भी निर्भर करती है कि उस ज्ञान का प्रचार किस हद तक हुआ है? लेकिन जो आदमी अपनी ही जानकारी से संतुष्ट है, वे उसे बढ़ाने का प्रयास कभी भी नहीं करेंगे। जो आदमी समझते हैं कि उनके मत शत प्रतिशत ठीक हैं, वे कभी उन बातों का परीक्षण करने का प्रयास नहीं करेंगे, जिन पर वे मत आश्रित हैं। वे आश्चर्य से देखते हैं और कभी भयभीत भी हो जाते हैं, जब वे देखते हैं कि उनके पूर्वजों

के मतों से सर्वथा विरोधी मत प्रकट किए जा रहे हैं। जब तक उनकी ऐसी ही मनःस्थिति है तब तक यह असंभव है कि वे किसी भी ऐसे सत्य को स्वीकार कर लें जो उनकी पूर्व की मान्यताओं से बेमेल हो।

इसलिए यद्यपि सामाजिक प्रगति का कोई भी कदम तभी उठाया जा सकता है जब हमारे पास कुछ नया ज्ञान हो। और इस तरह का ज्ञान प्राप्त हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि उससे पहले जिज्ञासा का आग्रह हो, सन्देह की उत्सुकता हो। बिना सन्देह के खोज नहीं की जाती और बिना खोज किए ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। ज्ञान कोई ऐसा बेजान तत्त्व नहीं है जो हम चाहे चाहें और चाहे न चाहें, हमारे पास अनायास चला आए। उसे प्राप्त करने के लिए इसके लिए प्रयास करना अनिवार्य है। यह बहुत परिश्रम करने से और बहुत परित्याग करने से प्राप्त होता है। और ऐसा मानना बेकार है कि आदमी उन विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रम करेगा और परित्याग करेगा, जिनके बारे में वह पहले ही आश्वस्त है कि वह सब कुछ जानता है। जिन्हें अन्धकार का अनुभव नहीं होता, वे कभी प्रकाश की खोज नहीं करेंगे। यदि किसी बात के बारे में हम निश्चिन्त हैं तो हम उस विषय में कुछ भी नयी खोज नहीं करेंगे, क्योंकि खोज करना ही बेकार है, और कभी-कभी खतरनाक भी हो सकता है खोज करना। आरंभ करने से पहले सन्देह को दखल देना ही चाहिए। इसलिए जो सन्देह करता है उसी से प्रगति आरंभ होती है या प्रगति की संभावना है।'

अब ब्राह्मणों ने किसी भी प्रकार के सन्देह के लिए कहीं कोई गुंजायश ही नहीं छोड़ी। उन्होंने एक अत्यन्त शरारतपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उस सिद्धान्त का उन्होंने सर्व-सामान्य लोगों में प्रचार कर दिया है। वह सिद्धान्त है वेदों के निर्भ्रान्त होने का। यदि हिन्दुओं की बुद्धि को ताला नहीं लग गया है और यदि हिन्दू-सभ्यता और संस्कृति एक सड़ा हुआ तालाब नहीं बन गई है, और यदि भारत वर्ष को प्रगति करनी है तो इस सिद्धान्त को जड़-मूल से उखाड़ना चाहिए। वेद बेकार की चार पुस्तकें मात्र हैं। न उन्हें पवित्र मानने की आवश्यकता है, और न निर्भ्रान्त ब्राह्मणों ने वेदों को पवित्रता और निर्भ्रान्तता प्रदान की है, क्योंकि पुरुष-सूक्त नाम के एक बाद में डाले गए प्रक्षिप्त अंश ने उन्हें पृथ्वी का स्वामी बना दिया है। किसी में भी इतना साहस नहीं कि पूछे कि इन निकम्मी किताबों को, जिनमें अपने शत्रुओं को नष्ट करने के लिए देवताओं का आह्वान किया गया है, उनकी सम्पत्ति को लूटकर अपने लोगों में बांट देने के लिए कहा गया है, पवित्र और निर्भ्रान्त क्यों बनाया गया है? इसलिए समय आ गया है जब उन मूर्खतापूर्ण मान्यताओं से, जिनका ब्राह्मणों ने प्रचार किया है, हिन्दू मस्तिष्क को मुक्त किया जाय। यदि मुक्ति प्राप्त नहीं हुई तो भारत का कोई भविष्य नहीं। मैंने भली प्रकार यह जानते हुए भी कि इसमें बड़ा खतरा है, ऐसा करने का बीड़ा उठाया है। मुझे परिणामों की चिन्ता नहीं। यदि मैं जनता को जागृत कर सका तो मुझे प्रसन्नता होगी।

—बी. आर. अम्बेडकर

धर्मों के बारे में

भारत जमातों का देश है। यहां पारसी, ईसाई, मुसलमान और हिन्दू रहते हैं। इन जमातों का आधार भिन्न-भिन्न नस्लें नहीं हैं। यह स्पष्ट है कि ये धार्मिक विभाजन हैं। किन्तु ऐसा मान बैठना भी किसी बात की गहराई में जाना नहीं है। जो बात महत्त्व की है वह यह है कि जो पारसी है, वह पारसी क्यों है? जो ईसाई है, वह ईसाई क्यों है? जो मुसलमान है, वह मुसलमान क्यों है? जो हिन्दू है, वह हिन्दू क्यों है? जहां तक पारसी, ईसाई, मुसलमान का सवाल है, उनके लिए प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं। किसी पारसी से पूछिए कि वह पारसी क्यों है? उसे इस प्रश्न का उत्तर देने में कुछ कठिनाई न होगी। वह कहेगा कि वह इसलिए पारसी है क्योंकि वह जोराष्टर का अनुयायी है। यही प्रश्न किसी ईसाई से भी पूछिए। उसे भी प्रश्न का उत्तर देने में कुछ कठिनाई न होगी। वह ईसाई है क्योंकि वह हजरत ईसा में विश्वास करता है। एक मुसलमान से भी यही प्रश्न पूछिए। उसके भी इस प्रश्न का उत्तर देने में तनिक हिचकिचाहट न होगी। वह कहेगा कि वह इस्लाम में विश्वास करता है, इसीलिए वह मुस्लिम है।

अब यही प्रश्न एक हिन्दू से पूछकर देखिए। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि वह एकदम चकरा जाएगा। उसकी समझ में न आएगा कि वह क्या उत्तर दे?

यदि वह कहता है कि वह हिन्दू इसीलिए है कि वह उसी देवता की पूजा करता है, जिसकी बाकी सारे हिन्दू करते हैं, तो उसका उत्तर सच्चा और सही नहीं हो सकता। सभी हिन्दू किसी भी एक देवता को नहीं मानते हैं और किसी भी एक देवता की पूजा नहीं करते। कुछ हिन्दू एक-देववादी हैं, कुछ अनेक देवताओं को नहीं मानते। कुछ विष्णु की पूजा करते हैं। कुछ शिव की पूजा करते हैं, कुछ कृष्ण की पूजा करते हैं। कुछ किसी भी पुरुष देवता को नहीं मानते। वे किसी-न-किसी स्त्री देवी की पूजा करते हैं। देवियों को मानने वाले भी किसी एक ही देवी की पूजा नहीं करते। वे भिन्न-भिन्न देवियों को पूजते हैं। कुछ काली की पूजा करते हैं, कुछ पार्वती की पूजा करते हैं, कुछ लक्ष्मी की पूजा करते हैं।

अनेक देव वादियों को लें, वे सभी देवताओं को मानते, पूजते हैं। वे विष्णु को भी पूजेंगे, शिव को भी पूजेंगे, राम को भी पूजेंगे, कृष्ण को भी पूजेंगे। वे काली, पार्वती, और

लक्ष्मी को एक साथ पूजेंगे। एक हिन्दू शिवरात्रि का व्रत रखेगा, क्योंकि वह शिव का पवित्र दिन है। वह एकादशी व्रत रखेगा, क्योंकि वह विष्णु का पवित्र दिन है। वह बेल का गाछ लगाएगा, क्योंकि वह शिव का पवित्र पेड़ है। वह तुलसी का पौधा लगाएगा, क्योंकि वह विष्णु का प्रिय पौधा है।

हिन्दुओं में जो अनेक देववादी हैं, वे केवल हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा नहीं करते। वे किसी के भी देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। किसी भी हिन्दू को एक मुस्लिम पीर तक को पूजने में हिचकिचाहट नहीं होती। किसी ईसाई देवी को भी। हजारों हिन्दू अनेक मुस्लिम पीरों के पास जाते हैं और चढ़ावे चढ़ाते हैं, यथार्थ में कुछ ऐसे स्थान हैं जहां मुस्लिम पीरों के परम्परागत पूजक ब्राह्मण हैं और मुस्लिम पीरों का वेश पहनते हैं। बंबई के पास ही मन्त मौली नाम की ईसाई देवी पर हजारों हिंदू चढ़ावा चढ़ाने जाते हैं।

ईसाई या मुस्लिम देवी-देवताओं की पूजा समय विशेष पर ही होती है। कुछ हिन्दू लोग दूसरे धर्मों के साथ इसकी भी अपेक्षा निकट-वफादारी का संबंध निभाते हैं। बहुत से ऐसे तथाकथित हिन्दू हैं, जिनके धर्म में इस्लाम का बड़ा सम्मिश्रण है। इनमें उल्लेखनीय हैं विचित्र पञ्च पीरीय सम्प्रदाय के अनुयायी। ये ऐसे पांच मुस्लिम सन्तों की पूजा करते हैं, न जिनके नामों का कोई ठिकाना है, न व्यक्तित्व का। उन पीरों पर वे हिन्दू मुर्गे तक चढ़ाते हैं और इस काम के लिए एक मुस्लिम डफली फकीर का इस्तेमाल करते हैं। हिन्दू सारे भारत में मुस्लिम दरगाहों की यात्रा करते हैं, जैसे पंजाब में वे सखी सरवर को पूजने जाते हैं।

मलकानों-मुसलमानों की चर्चा करते हुए श्री. ब्लंट ने लिखा है कि वे सभी पहले के हिन्दू हैं और आगरा जिले के तथा आस-पास के मथुरा, एटा, मैनपुरी सदृश जिलों के रहने वाले हैं। वे पहले के राजपूत हैं, जाट हैं और बनिये हैं। वे अपना परिचय अपने आपको मुसलमान कहकर नहीं देते। वे बहुधा अपनी पुरानी जाति का नामोल्लेख करते हैं और मुश्किल से 'मलकाना' शब्द तक को जानते हैं। उनके नाम हिन्दुओं के से नाम हैं। वे अक्सर हिन्दू-मन्दिरों तक में आते-जाते हैं। आपस में भेंट-मुलाकात होने पर वे 'राम राम' कहते हैं। शादी-विवाह वे केवल आपस में करते हैं। यूं वे कभी-कभी किसी मसजिद में भी चले जाते हैं। वे सुन्नत करवाते हैं और अपने मुर्दों को गाड़ते हैं। यदि घनिष्ट संबंध हो, वे तभी मुसलमानों के यहां खाना-पीना करते हैं।

गुजरात में ऐसे कई जनसमूह हैं, जैसे मटिया कुनबी। ये लोग अपनी शादी-विवाह प्रभृति संस्कार-विधियां ब्राह्मणों के हाथ से कराते हैं, लेकिन वे पीरान सन्त इमाम शाह के अनुयायी हैं, और अपने मुर्दों को मुसलमानों की तरह दफनाते हैं। शेखदास अपनी बिरादरी में होने वाली शादी-विवाह के अवसरों पर पुरोहिताई के लिए ब्राह्मण-पुरोहित के साथ मुसलमान मुल्लाजी को भी बुलाते हैं। मोमन लोग सुन्नत करते कराते हैं। अपने मुर्दों को जलाते हैं और गुजराती भाषा में छपे कुरान भी पढ़ते हैं। अन्य सभी बातों में हिन्दू संस्कार-विधि का आश्रय लेते हैं।

यदि कोई हिन्दू कहता है कि मैं इसलिए हिन्दू हूं, क्योंकि मैं हिन्दू सिद्धान्तों को मानता हूं, उसका जवाब भी सही जवाब नहीं। यहां परिस्थिति इतनी विकट है कि हिन्दू-धर्म के अपने कोई स्थिर सिद्धान्त हैं ही नहीं। जो लोग अपने आपको 'हिन्दू' कहते हैं, उनमें ही से कुछ हिन्दुओं के सिद्धान्त अपने को 'हिन्दू' ही कहने वाले दूसरे लोगों के सिद्धान्तों से इतने अधिक भिन्न हैं, जितने एक मुसलमान के एक ईसाई से भी नहीं। कुछ मुख्य सिद्धान्तों तक ही अपने आप को सीमित रखें, तो हिन्दुओं के मुख्य सिद्धान्त भी परस्पर विरोधी ही हैं। कुछ हिन्दू कहते हैं कि सभी हिन्दू-ग्रंथों को मान्य ठहराया जाय। कुछ हिन्दू तन्त्र ग्रन्थों को अमान्य करेंगे। कुछ दूसरे हिन्दू केवल वेदों को मान्य ठहराएंगे। कुछ दूसरे हिन्दुओं का कहना है कि हिन्दू होने के लिए कर्मों और जन्मान्तर के सिद्धान्त को मानना पर्याप्त है।

मान्यताओं और सिद्धान्तों के अत्यन्त उलझे हुए संग्रह का नाम मात्र हिन्दू-धर्म है। इसके घेरे में आते हैं एकेश्वरवादी, अनेक देववादी, सर्वेश्वर वादी, शिव और विष्णु जैसे महान देवताओं के पुजारी, उनकी देवियों के पुजारी, वृक्षों की पूजा करने वाले, चट्टानों और जलधाराओं की पूजा करने वाले तथा गांव के संरक्षक देवताओं के पुजारी। इनके अतिरिक्त ऐसे लोग भी इसके अंतर्गत माने जाते हैं जो सभी तरह की खूनी बलियों द्वारा अपने-अपने देवी-देवताओं को प्रसन्न रखने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोग भी इसके अन्तर्गत माने जाते हैं जो किसी भी प्राणी की 'हत्या' तो करेंगे ही नहीं, बल्कि अपने मुंह से 'हत्या' शब्द तक का उच्चारण नहीं करेंगे। ऐसे लोग भी इसके अन्तर्गत माने जाते हैं जिनके कर्मकांड में प्रार्थना और भजनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं। ऐसे लोग भी इसके अन्तर्गत हैं जो धर्म के नाम पर अकथनीय दुराचारों में संलग्न हैं। ऐसे बहुत से परम्परा विरोधी मत-मतान्तरों की गिनती भी इनके अन्तर्गत होती है, जिनमें से अनेक मत ब्राह्मणों को श्रेष्ठपद देना स्वीकार नहीं करते अथवा अब्राह्मण ही जिनके धार्मिक नेता हैं।

यदि कोई हिन्दू कहे कि मैं इसीलिए हिंदू हूं क्योंकि मैं दूसरे हिन्दुओं के जो रीति-रिवाज हैं उन्हीं का अनुकरण करता हूं, तो उसका उत्तर भी सही नहीं है। सभी हिन्दुओं के रीति-रिवाज समान हैं ही नहीं।

उत्तर-भारत में नजदीकी रिश्तेदार परस्पर शादी नहीं कर सकते, किन्तु दक्षिण में चचेरे, ममेरे भाई या बहिन से शादी कर लेना विहित है। कभी-कभी इनसे भी अधिक निकट के रिश्तेदारों में विवाह संबंध हो जाते हैं। सामान्य रूप से स्त्रियों की शुद्धता को ऊंचा स्थान दिया जाता है, किन्तु कुछ लोग इसे भी बहुत महत्त्व नहीं देते, कम-से-कम लड़कियों के विवाहित हो जाने तक। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो अपनी एक न एक लड़की को देवदासी (मजहबी वेश्या) का जीवन बिताने के लिए छोड़ देते हैं। देश के कुछ भागों में स्त्रियां स्वतंत्र विचरण करती हैं, दूसरे भागों में उन्हें परदों में रहना पड़ता है। कहीं-कहीं स्त्रियां साड़ियां पहनती हैं, कहीं-कहीं पाजामे।

फिर यदि कोई हिन्दू कहे कि वह इसीलिए हिन्दू है, क्योंकि वह जाति-पाँति की

प्रथा को मानता है तो उसका यह उत्तर भी पूरी तरह संतोषजनक नहीं। यह सत्य है कि किसी भी हिन्दू को इस बात की परवाह नहीं होती कि उसका पड़ोसी किन बातों में विश्वास रखता है और किन में नहीं। लेकिन उसे यह जानने की बड़ी फिकर रहती है कि उसका पड़ोसी उसके हाथ का पानी पी सकता है या नहीं? उसके हाथ का खाना खा सकता है या नहीं? इसका मतलब हुआ कि जाति-पाँति मानना हिन्दू-धर्म का अनिवार्य अंग है। जो आदमी किसी भी सम्माननीय जाति से संबंधित नहीं है, वह हिन्दू नहीं ही है। यह सब कुछ सही है तो भी यह बात भुलाई ही नहीं जा सकती कि अकेला जाति-पाँति में विश्वास करना ही पर्याप्त नहीं है। बहुत से मुसलमान और ईसाई भी, भले ही वे खान-पान को लेकर न करते हों, वे भी शादी-विवाह के मामले में जाति-प्रथा मानते हैं। लेकिन अकेली इसी एक वजह से भी वे हिन्दू नहीं कहला सकते। दोनों बातें एक साथ होनी चाहिए। उसे हिन्दू भी होना चाहिए और उसे साथ-साथ जाँति-पाति-प्रथा में विश्वास करने वाला भी होना चाहिए। अब हमारे सामने वही मुख्य प्रश्न आकर फिर खड़ा हो जाता है—हिन्दू कौन है? हम जहां थे वहीं खड़े रह जाते हैं।

क्या यह प्रश्न प्रत्येक हिन्दू के लिए विचारणीय नहीं है कि उसके अपने धर्म को ही लेकर उसकी अपनी स्थिति क्यों इतनी अधिक डावांडोल है? जिस सीधे-सादे प्रश्न का उत्तर प्रत्येक पारसी, प्रत्येक ईसाई, प्रत्येक मुसलमान दे सकता है, अकेला वही उस प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं दे सकता? क्या अब भी वह समय नहीं आया जब उसके लिए अपने आप से यह प्रश्न पूछना अनिवार्य हो गया हो कि ऐसे कौन-से कारण घटित हुए हैं, जिनकी वजह से ऐसी धाँधली मची है?

वेदों की उत्पत्ति

ऐसा शायद ही कोई हिन्दू होगा जो वेदों को अपने धर्म का पवित्रतम ग्रन्थ न मानता हो। और आप किसी भी हिन्दू से पूछें कि वेदों का मूल क्या है तो ऐसा हिन्दू मुश्किल से मिलेगा जो इस सीधे-सादे प्रश्न का निश्चित और प्रामाणिक उत्तर दे सके। लेकिन यदि यही प्रश्न किसी भी वैदिक ब्राह्मण से पूछा जाए तो उसका तो यही उत्तर होगा कि वेद सनातन हैं। लेकिन यह तो इस प्रश्न का कोई उत्तर ही नहीं हुआ। तब पूछना होगा कि सनातन का क्या अर्थ है? सनातन धर्म की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या मनुस्मृति के प्रथम परिच्छेद के 22वें, 23वें श्लोक पर कुल्लुक भट्ट की गई टीका में है। सनातन शब्द के संबंध में कुल्लुक भट्ट का कहना है—'सनातन शब्द का मतलब है सदा से पूर्व-स्थित। वेदों के अमानुषीय मूल्य का सिद्धान्त मनु को मान्य था। जो वेद पूर्व-कल्प में विद्यमान थे, वे सर्वज्ञ ब्रह्म की स्मृति में सुरक्षित रहे। ब्रह्म और परमेश्वर एक थे। वे ही वेद इस कल्प के आरंभ में उसने अग्नि, वायु, सूर्य से प्राप्त किए। यह मान्यता जो वेदों पर आधारित है किसी तरह अमान्य नहीं हो सकती। वेदों का ही वचन है, 'ऋग् वेद का मूल अग्नि है, यजुर्वेद का वायु और सामवेद का सूर्य।'

कुल्लुक भट्ट की व्याख्या को हृदयङ्गम कर सकने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह समझें कि 'कल्प' से क्या अभिप्राय है? 'कल्प' वैदिक ब्राह्मणों द्वारा स्वीकार किया गया समय का हिसाब-किताब है। ब्राह्मणों ने समय को पांच भागों में बांटा है—1. वर्ष, 2. युग, 3. महायुग, 4. मन्वन्तर, और 5. कल्प।

वर्ष का अर्थ सामान्य है। यह 'काल' का पयार्य है। युग का ठीक-ठीक क्या अभिप्राय है, इसमें एक मत नहीं है। महायुग का मतलब है चार युगों का समूह 1. कृत (= सत्), 2. त्रेता, 3. द्वापर, तथा 4. कलि। चारों युग साइकिल के पहियों की तरह एक दूसरे का अनुसरण करते हैं। जब एक युग समाप्त हो जाता है तो दिए हुए क्रम के अनुसार अगला युग उसका अनुसरण करता है। जब चक्र पूरा हो जाता है, एक महायुग संपूर्ण होता है। तब दूसरे महायुग का आरंभ होता है। प्रत्येक महायुग का पहला युग होता है, कृत युग और अन्तिम युग होता है कलियुग।

महायुग और कल्प के बीच समय के संबंध की दृष्टि से कुछ भी सन्दिग्ध नहीं है।

इकहत्तर महायुगों का एक कल्प होता है। लेकिन महायुग और मन्वन्तर के बीच का समय की दृष्टि से जो संबंध है उसमें कुछ अनिश्चयात्मकता है। एक मन्वन्तर के 71 (इकहत्तर) महायुग होते हैं और कुछ और। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह कहीं नहीं दिया गया है कि इस कुछ ओर का क्या अभिप्राय है? इसी कारण से मन्वन्तर और कल्प का समय की दृष्टि से परस्पर का संबंध अस्पष्ट है। हमारे सामने इस समय जो विचारणीय प्रश्न है, उसकी दृष्टि से इस बात का कुछ भी विशेष महत्त्व नहीं। इस समय हमारे लिए 'कल्प' का ही चिन्तन करना पर्याप्त है। कल्प के संबंध में जो मान्यता है, उसका विश्व की रचना और विश्व के विनाश की मान्यता की कल्पना से निकट का संबंध है। विश्व की रचना सृष्टि कहलाती है और विश्व का विनाश प्रलय। सृष्टि और प्रलय के बीच का समय 'कल्प' कहलाता है। इस प्रकार वेदों के मूल की कल्पना 'कल्प' की कल्पना के साथ निकट संबंध रखती है।

यह जो विचारसरणी है, इसके अनुसार जो कुछ होता है, वह यही होता है कि जब कल्प का आरंभ होता है, तभी सृष्टि का आरंभ होता है। जिस समय सृष्टि का आरंभ होता है, तभी वेदों का एक नया संस्करण अस्तित्व में आता है। कुल्लुक यह कहना चाहता है कि यद्यपि एक दृष्टि से प्रत्येक नए कल्प का अपना एक नया वेद होता है, लेकिन वह वही पुराना वेद होता है, जो पहले था और उसे ब्रह्मा अपनी स्मरणशक्ति के बल पर नए सिरे से उपस्थित करते हैं। इसी अर्थ में उसका कहना है कि वेद सनातन है अर्थात् सदा से पूर्व-स्थित।

कुल्लुक भट्ट का कहना है कि वेद स्मृति से उपस्थित किए गए। प्रश्न यह नहीं है कि किसने उपस्थित किए? प्रश्न यह है कि किसके द्वारा रचित हैं? यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि प्रत्येक कल्प के आरंभ में वेद नए सिरे से उपस्थित किए गए तब भी यह प्रश्न बना ही है कि प्रथम कल्प के आरंभ में किसने प्रथम बार वेदों की रचना की। वेद यूं ही अभाव में से अस्तित्व में नहीं आए होंगे। उनका आदि तो होगा ही, भले ही उनका अन्त न हो। ब्राह्मण इस शङ्का का खुलकर समाधान क्यों नहीं करते? यह शब्दों की हेरा-फेरी किसलिए?

वेदों के बारे में शास्त्रीय मत

(1)

वेदों के मूल की खोज हम स्वयं वेदों से आरंभ कर सकते हैं। ऋग् वेद वेदों के मूल के बारे में एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। यह प्रसिद्ध सूक्त में समाविष्ट है। इस के अनुसार पुरुष नाम के जीव ने एक मनगढ़न्त यज्ञ किया था और इसी यज्ञ ने ऋग्, यजु और साम नाम के तीनों वेदों को जन्म दिया।

सामवेद और यजुर्वेद में वेदों के मूल के बारे में एक शब्द भी नहीं। अथर्ववेद ही एक ऐसा दूसरा वेद है जिसे वेदों के मूल के बारे में कुछ कहना है। वेदों के मूल के संबंध में इसमें कई मान्यताएं हैं–

एक मान्यता है–'काल ने ऋग् वेद के मन्त्रों को जन्म दिया। यजुर्वेद के मन्त्रों को जन्म दिया। यजुर्वेद काल से उत्पन्न हुआ।

अथर्ववेद में दो मत विद्यमान हैं। इनमें से जो पहला मत है, वह स्पष्ट नहीं है। उसकी शब्दावलि इस प्रकार है–

'बताओ, वह कौन-सा स्तंभ है जिसके आश्रय से आदित्य ऋषि-गण, ऋग्, साम तथा यजुर्वेद, पृथ्वी तथा एक ऋषि स्थिर हैं। बताओ कि वह कौन-सा स्तंभ है, जिससे ऋग्-वेद के मन्त्रों को पृथक करते हैं, जिससे वे यजुर्वेद को पृथक करते हैं, सामवेद के मन्त्र जिसके उत्तराधिकारी हैं और अथर्व तथा अंगीरस के मन्त्र जिसके मुंह हैं।'

यह कथन स्पष्ट ही किसी ऐसे मत का खण्डन है जिसकी स्थापना थी कि ऋग्, यजुर्वेद तथा सामवेद की उत्पत्ति एक स्तंभी या एक एकम्भ से हुई थी?

अथर्ववेद में जो दूसरा मत दिया गया है उसके अनुसार वेदों का जनक इन्द्र है।

(2)

इतना कुछ ही है जो वेदों को अपने मूल के बारे में कहना है। वेदों के बाद दूसरा नम्बर ब्राह्मण-ग्रन्थों का है। हमें जान लेना चाहिए कि इस विषय में ब्राह्मण ग्रंथों का क्या कथन

है? वेदों के मूल को समझाने का प्रयत्न करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थ केवल चार हैं—(1) सत्पथ ब्राह्मण, (2) तैत्रेय ब्राह्मण, (3) ऐत्रेय ब्राह्मण, और (4) कौशीतकी ब्राह्मण।

सत्पथ ब्राह्मण में विविध व्याख्याएं दी गई हैं : एक व्याख्या के अनुसार वेदों की उत्पत्ति प्रजापति से हुई है। इसके अनुसार—

'एक समय प्रजापति ही एकमात्र अकेला विश्व था। उसकी आकांक्षा हुई—मैं होऊं, मेरा विस्तार हो।' उसने भक्ति की। उसने तपस्या की।

जब उसने इस प्रकार परिश्रम किया था और तपस्या की थी, तीन लोक उत्पन्न हुए—पृथ्वी, वायु और आकाश। उसने इन तीनों को उष्णता प्रदान की। इस प्रकार गरम होने पर उन तीनों लोकों में से तीन प्रकार के प्रकाश उत्पन्न हुए, पवित्र करने वाली, अग्नि, पवन या वायु तथा सूर्य। उसने इन तीनों प्रकाशों को ऊष्णता प्रदान की। गरम होने पर उन तीनों प्रकाशों से तीन वेद उत्पन्न हुए, अग्नि से ऋग् वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद। उसने तीनों वेदों को ऊष्णता प्रदान की। गरम होने पर उन तीनों वेदों में तीन प्रकाश-सार उत्पन्न हुए; ऋग् वेद से भूः, यजुर्वेद से भुवः, और सामवेद से स्वः। इसीलिए अध्वर्यु का संबंध ऋग्वेद से है, उद्गाता का संबंध यजुर्वेद से है और ब्रह्म के कार्य का मूल है तीनों वेदों के सम्मिलित सार से उत्पन्न प्रकाश-सार।'

प्रजापति से वेदों की उत्पत्ति के प्रकरण को लेकर सत्पथ-ब्राह्मण की ही एक दूसरी व्याख्या भी है। इसका अभिप्राय है कि प्रजापति ने वेदों को जल से उत्पन्न किया। सत्पथ ब्राह्मण के शब्द हैं—

'उस पुरुष प्रजापति ने इच्छा की, मैं एक से अनेक हो जाऊं, मेरा विस्तार हो जाए।' उसने श्रद्धा की। उसने तपस्या की। ऐसा करके उसने सर्वप्रथम तीनों वैदिक विद्याओं को उत्पन्न किया। यह उसके लिए एक आधार हो गया। इसीलिए लोग कहते हैं कि पवित्र ज्ञान ही विश्व का आधार है। इसके बाद से वेद-ज्ञान ही आदमी के लिए खड़े रहने का आधार है, क्योंकि पवित्र ज्ञान ही उसका आश्रय है। इसी आधार पर स्थित होकर उसने तपस्या की। उसने वाक् से अप (जल) को उत्पन्न किया। वाक् उसकी वाणी थी। वह उत्पन्न की गई थी। क्योंकि वह व्याप्त थी, इसलिए वह अप् कहलाई। क्योंकि उसने सभी कुछ ढंक लिया, इसीलिए पानी 'वर' कहलाया। उसने इच्छा की कि मैं इन जलों से विस्तृत हो जाऊं। इस त्रिविध वैदिक विद्या के साथ जलों में प्रविष्ट हो गया। वहां से एक अण्डा उत्पन्न हुआ। उसने उस अण्डे को प्रेरित किया और कहा, 'होने दो, होने दो, फिर होने दो।' उसी से सर्वप्रथम पवित्र विद्या की उत्पत्ति हुई, त्रिविध वैदिक विद्या। इसीलिए लोग कहते हैं कि विश्व में पवित्र ज्ञान की उत्पत्ति हुई है। इसके अतिरिक्त उस पुरुष के अग्रभाग से उत्पन्न होने वाली पवित्र विद्या ही थी, यह उसके मुख स्वरूप प्रकट हुई। इसलिए जो आदमी वेद विद् होता है, उसके बारे में कहा जाता है कि वह अग्नि के समान है, क्योंकि पवित्र विद्या अग्नि से ही उत्पन्न है!

सत्पथ ब्राह्मण में ही एक तीसरी व्याख्या दी गई है।

'मैं तुम्हें समुद्र रूपी आसन पर विराजमान करूंगा।'

'चित्त समुद्र है। मानस-समुद्र से वाणी रूपी फावड़े की सहायता से देवताओं ने त्रिविधि वैदिक विद्याओं को खोदकर निकाला। इसीलिए यह मंत्र उच्चारित हुआ—'उस प्रकाश स्वरूप देवता को आज दिन इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि उन्होंने उस भेंट को कहां रखा जिसे देवताओं ने तेज फावड़े से खोद निकाला। मन समुद्र है। वाणी तेज फावड़ा है। त्रिविध वैदिक विद्या भेंट है। इसी एक संबंध में यह गाथा की गई है। वह इसे मन में स्थिर रखता है।'

तैत्रेय ब्राह्मण में तीन मत अभिव्यक्त किए गए हैं। उसका यह भी मत है कि वेदों के मूल में प्रजापति है। उसका यह भी कहना है कि प्रजपति ने सोम को उत्पन्न किया और इसके बाद तीन वेदों की उत्पत्ति हुई। इसी ब्राह्मण-ग्रन्थ में एक और अभिमत भी दिया गया है जिसका प्रजापित से कोई संबंध नहीं।

वाक् अविनाशी है। उसका जन्म सबसे पूर्व हुआ है। वह वेदों की जननी है। वह अमृतत्त्व का केन्द्र-बिन्दु है। हम पर प्रसन्न होकर वह यज्ञ में पधारी। हमारी संरक्षक देवी हमारे आह्वान को सुनने के लिए प्रस्तुतत रहे। उस वाक् को ही वे ज्ञानी ऋषि, जिन्होंने वेद-मन्त्रों की रचना की है और देवतागण तपस्या और भक्ति के द्वारा तलाश करते रहे हैं।

इन सबके ऊपर तैत्रेय-ब्राह्मण की एक अपनी तीसरी मौलिक व्याख्या है। इसके अनुसार वेद प्रजापति की दाढ़ी से उत्पन्न हुए।

(3)

उपनिषदों ने वेदों के मूल के बारे में अपना मत अभिव्यक्त किया है। छान्दोग्य उपनिषद में वेदों के मूल की जो व्याख्या की है, वह वही है जो सत्पथ ब्राह्मण की है, अर्थात् ऋग-वेद अग्नि से उत्पन्न हुआ। यजुर्वेद वाणी से और सामवेद सूर्य से।

बृहदारण्यक उपनिषद में दो तरह से समझाया है। एक जगह उसका कहना है कि जैसे गीली लकड़ी जलाने से तरह-तरह का धुआं निकलता है, उसी प्रकार से उस महान् पुरुष की सांस ही सभी कुछ है—ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वेङ्गीरस, इतिहास, पुराण विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, नाना प्रकार की टीकाएं—ये सब उसी पुरुष परमेश्वर की सांसें हैं। इसी का दूसरी जगह कथन है—प्रजापति (यमराज) ने वाक् को उत्पन्न किया और उसके माध्यम से आत्मा सहित सभी वस्तुओं को उत्पन्न किया। वेद का भी उनमें समावेश है।''

''इस वाणी और आत्मा से उसने सभी चीजें उत्पन्न कीं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, छन्दस्, यज्ञ, प्राणी और पशु।''

''तीनों वेद यहां तीन चीजें हैं, वाणी, मनस और सांस। वाणी ऋग्वेद है, मनस यजुर्वेद और सांस सामवेद।''

(4)

स्मृतियों को लें। मनुस्मृति में वेदों के मूल के बारे में दो मत मिलते हैं। एक जगह कहा है कि वेदों की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई।

''आरंभ में ब्रह्मा ने वेदों के शब्दों से बहुत से नामों, कार्यों तथा सभी प्राणियों की स्थितियों की रचना की। उसी ने सूक्ष्म क्रियारत जीवित देवताओं की रचना की। साध्यों की रचना की। अनन्त यज्ञों की रचना की और यज्ञों का विधान करने के लिए उसने अग्नि, वायु और सूर्य से ऋग्, यजु और सामवेद नामक त्रिविधि वेदों की रचना की।''

दूसरी जगह ऐसा प्रतीत होता है कि उसने वेदों के ब्रह्ममूलक होने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। निम्नलिखित उद्धरण देखें–

''प्रजापति ने तीन वेदों, अ, उ तथा म वर्णों को भी दूहा। साथ ही भूः भुवः तथा स्वः शब्दों को। इसी सर्वोपरि प्रजा ने तीनों वेदों में से प्रत्येक में से मूल के तीन हिस्सों में से एक को दूहा। यह सावित्री या गायत्री कहलाता है और तत्–से आरंभ होता है। तीन अविनाशी तत्त्व (भूः, भुवः, स्वः) जिनके आरंभ में ॐ आता है और तीन पंक्तियों का गायत्री का मन्त्र ब्रह्म का मुख माना जाना चाहिए।

(5)

जो कुछ वेदों के मूल के बारे में पुराणों का कथन है, वह भी मनोरंजक है। विष्णु-पुराण की स्थापना है–

''ब्रह्मा ने अपने पूर्वाभिमुख मुंह से गायत्री, ऋग् वेद के मन्त्र, त्रिवृत्, सोमरथंतर, यज्ञप्रथा अग्निस्तोम की रचना की। दक्षिणाभिमुख से उसने यजुर्वेद के मंत्रों, त्रिष्टुभ छन्दस्, पञ्च दस स्तोत्र, वैरूप्य तथा अतिरत्र की रचना की। उत्तराभिमुख मुंह से उसने एकविंश विज छन्दों की रचना की। भागवत पुराण का कथन है–

''एक बार चतुर्मुख ब्रह्मा से वेदों की उत्पत्ति हुई। उस समय वह यही सोच रहा था कि मैं पूर्ववत् समस्त विश्व को कैसे उत्पन्न करूंगा? उसने अपने पूर्वाभिमुख मुंह से तथा दूसरे मुंहों से ऋग्, यजु, साम तथ अथर्व की रचना की। उसके साथ-साथ स्तुतियों की रचना की, प्रार्थनाओं की रचना की तथा प्रायश्चित्तों की रचना की।''

''उसकी आंखों में प्रवेश करके–उससे तब एक चार गुणा जीव उत्पन्न हुआ, जो पुरुष जाति का था। वह ब्रह्म की तरह प्रकाशमान था। वह वाणी से अगोचर था, अनन्त था, स्थिर था, शारीरिक इन्द्रियों या गुणों से रहित था, अति प्रकाशमान था, चन्द्रमा की किरणों की तरह स्वच्छ था, तेजयुक्त था तथा वर्णों से मुक्त था। परम् पुरुष ने अपनी आंखों से ऋग्वेद तथा यजुर्वेद की रचना की, अपनी जिह्वा के सिरे से सामवेद की रचना की और अपने सिर से अथर्ववेद की रचना की। इन वेदों के अस्तित्व में आते ही उन्हें

क्षेत्र की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए वे अपने-अपने वेद-स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि उन्हें क्षेत्र की प्राप्ति हो जाती है। तब ये वेद ' पूर्वस्थित नित्य' ब्रह्म को उत्पन्न करते हैं, एक दिव्य-पुरुष अपने मानसगुण लिए हुए।''

ये प्रजापति को भी वेदों का मूल स्वीकार करते हैं। उसका कहना है कि जब परं पुरुष को विश्व की रचना की चिन्ता थी, हिरण्यगर्भ था। प्रजापति ने अपने मुख से 'ॐ' शब्द का उच्चारण किया। उस समय उन्हें अपना विभाजन करने की पड़ी थी, लेकिन यह कार्य कैसे सम्पन्न करें, यह ब्रह्मा को स्पष्ट नहीं था।

हरिवंश पुराण की स्थापना है—

''जब वह इस प्रकार विचार-मग्न था, उसके मुंह से ॐ शब्द निकला। वह शब्द पृथ्वी, हवा और आकाश में गूंज गया। जब वह देवाधिदेव बार-बार इस शब्द का उच्चारण करने में रत थे, उनके हृदय से वषट्कार का निर्गमन हुआ। तब पवित्र और दिव्य व्यावहरिति (भूः भुवः तथा स्वः) का शब्द के रूप में पृथ्वी, वायु और आकाश से निर्माण हुआ। इनकी अपनी रचना महास्मृतियों से हुई है। तब देवी का आविर्भाव हुआ, सर्वश्रेष्ठ छन्दस का, 24 वर्णों से युक्त गायत्री का। तत् शब्द से आरंभ होने वाले मूल पर विचार करते हुए परम् पुरुष ने गायत्री की रचना की। इसके बाद उसने ऋग्, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद सभी वेदों की रचना की, उनकी प्रार्थनाओं के साथ, तथा उनके विधि-विधान के साथ।''
यहां वेदों के मूल के बारे में हमारे पास ग्यारह भिन्न-भिन्न मन्तव्य हैं : (1) पुरुष के दिव्य यज्ञ से उत्पन्न, (2) स्कन्ध या स्तम्भ पर आधारित, (3) उससे काट लिए गए या छीन लिए गए, उसका बाल या उसका मुंह, (4) इन्द्र से उत्पन्न, (5) काल से उत्पन्न, (6) अग्नि, वायु और सूर्य से उत्पन्न, (7) प्रजापति तथा जल से उत्पन्न, (8) ब्रह्मा का सांस मात्र, (9) मानस रूपी समुद्र में से देवताओं द्वारा खोदकर निकाले गए, (10) प्रजापति की दाढ़ी के बालों से उत्पन्न, तथा (11) वाणी की संतति।

एक प्रश्न के चकरा देने वाले इतने अधिक उत्तर! जिन्होंने इतने अधिक भिन्न-भिन्न उत्तर उपस्थित किए वे संभवतः सभी ब्राह्मण रहे होंगे। वे सभी एक ही वैदिक विचार-सरणी के समर्थक रहे। उन्हीं के हाथों में सारा प्राचीन वैदिक वाङ्मय सुरक्षित था।

एक स्वाभाविक जिज्ञासा है कि एक सीधे-सादे प्रश्न के—वेदों का मूल क्या था? इतने अधिक भिन्न-भिन्न चकरा देने वाले उत्तर क्यों?

वेदों की अपौरुषेयता

यह कहना कि हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में वेदों का बहुत ऊंचा स्थान है, कोई खास बात नहीं। यह कहना भी कि वेद हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य होने के अतिरिक्त ऐसे ग्रन्थ हैं जो प्रमाण-भूत हैं; जिनकी प्रामाणिकता पर प्रश्न-चिह्न नहीं लग सकता। वेदों में कभी कोई ऐसी बात हो ही नहीं सकती जो अमान्य हो। जिस तर्क का आधार वेद है, वह अन्तिम है। उसके आगे कोई बात की ही नहीं जा सकती। उसके आगे न कोई दलील, न अपील और न वकील। यह वैदिक ब्राह्मणों की मान्यता है और सामान्य रूप से सभी हिन्दुओं को मान्य है।

(1)

इस सिद्धान्त का आधार क्या है? इस सिद्धान्त का आधार यह दृष्टि है कि वेद अपौरुषेय हैं। जब वैदिक ब्राह्मण कहते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं तो उनका मतलब इतना ही होता कि वेद किसी भी पुरुष की रचना नहीं है। क्योंकि वे मनुष्यों की रचना नहीं हैं, इसलिए उनमें वैसा कोई भी दोष नहीं है, वैसी कोई भी कमी नहीं है, वैसी कोई भी कमजोरी नहीं, जो किसी भी मनुष्य की रचना में हो सकती है। इसीलिए वेद निर्भ्रान्त हैं।

(2)

यह समझ में आना कठिन है कि वैदिक ब्राह्मणों ने ही इस प्रकार के सिद्धान्त का कैसे प्रतिपादन किया? क्योंकि एक समय था जब ये वैदिक ब्राह्मण ही वेदों की प्रामाणिकता के बारे में इससे भिन्न विचार रखते थे। अनेक धर्म-सूत्रों के रचयिताओं को छोड़कर ये वैदिक ब्राह्मण कोई दूसरे नहीं हैं।

गौतम धर्म-सूत्र से ही आरंभ करें। वेदों की प्रामाणिकता के प्रश्न को लेकर गौतम धर्म-सूत्र ने प्रामाणिकता के विषय में निम्नलिखित मर्यादा तय की है–

(1) वेद हैं पवित्र ज्ञान के भण्डार।

(2) जो वेद के ज्ञाता हैं, उनका आचरण तथा परंपरा।

(3) यदि परस्पर विरोध हो, तो स्वेच्छानुसार किसी भी आचरण का अनुसरण किया जा सकता है।

वशिष्ट धर्म-सूत्र का दृष्टिकोण है

(1) पवित्र ज्ञान का निर्णय वेद और उसके ज्ञातऋषियों के आचरण से होता है।

(2) इन दोनों स्रोतों से यदि मार्ग-दर्शन की उपलब्धि न हो तो शिष्टजनों का आचरण प्रमाणभूत माना जाता है। बौधायन का मत (प्रश्न-1, अध्याय-1, कण्डिका-1) में इस प्रकार दिया गया है–

(1) प्रत्येक वेद में पवित्र ज्ञान उपलब्ध है।

(2) हम उसी के अनुसार निर्णय देंगे।

(3) इसके बाद स्मृतियों में दिए गए ज्ञान का दर्जा है।

(4) शिष्टों के आचरण का दर्जा तीसरा है।

(5) यदि तब भी कोई विषय अनिर्णीत ही रहे, तो कम-से-कम दस आदमियों की सभा उसका निर्णय करे।

आपस्तम्ब धर्म-सूत्र का दृष्टिकोण उसमें दिए गए निम्नलिखित सूत्रों के उद्धरण से स्पष्ट है।

"अब हम उन पुण्य-कर्मों का उल्लेख करेंगे जो दैनिक जीवन के अंग हैं।"

"इन कर्तव्यों के विषय में उनकी सहमति प्रमाण है जो स्मृतियों के जानकार हैं।

"और उन जानकारों के लिए एकमात्र वेद ही प्रमाण हैं।"

(3)

न केवल वशिष्ट धर्म-सूत्र ने, बल्कि बौद्धायन धर्म-सूत्र ने भी इसका ख्याल रखा है कि शिष्ट की परिभाषा की जाए।

वशिष्ट धर्म-सूत्र का कथन है–

"जो आदमी तृष्णा मुक्त है, वही शिष्ट है।"

बौद्धायन शिष्ट के गुणों के विषय में अधिक ब्यौरा देता है। उसका मत है–

"शिष्ट वे हैं जो ईर्ष्या से मुक्त हैं, अहंकार से मुक्त हैं, दस दिनों के लिए पर्याप्त अनाज से संतुष्ट हैं, लालसा से मुक्त हैं, ढोंग से मुक्त हैं, अभिमान से मुक्त हैं, लालच से मुक्त हैं, असमंजस से मुक्त हैं, और मुक्त हैं क्रोध से।"

"जिन लोगों ने पवित्र विधान के अनुसार वेदों और उनके भाष्यों का अध्ययन किया है, जो उनसे फलितार्थ निकालना जानते हैं और जो उनसे बुद्धिगम्य प्रमाण उपस्थित कर

सकते हैं, शिष्ट कहलाते हैं।''

जिस सभा को बौद्धायन ने प्रमाण माना है, उसके विषय में एक खास बात कही है। इस विषय में उसका मत है—

''अब वे इस श्लोक को उद्धृत करते हैं, जिसका भावार्थ है, 'चारों वेदों में से कम-से-कम एक एक वेद के जानकार चार जने, एक मीमांसक, वेदाङ्ग आदि का जानकार एक, जो वेदमन्त्रों का उच्चारण करता है; वह एक, तीन भिन्न-भिन्न परंपराओं का प्रतिनिधित्व करने वाले तीन ब्राह्मण—ये सब मिलकर कम-से-कम दस सदस्यों की, एक-एक सभा का निर्माण करते हैं।''

''पांच, तीन या एक परिशुद्ध आदमी भी पवित्र धर्म के बारे में निर्णय दे सकता है। एक हजार मूर्ख भी निर्णय नहीं दे सकते।'' लकड़ी के बने हाथी के समान, चमड़े के बने हिरन के समान जो नाममात्र का ब्राह्मण है वह बेकार है।

धर्म-सूत्रों की समालोचना से यह स्पष्ट होता है कि किसी विवादास्पद विषय पर विचार करना और कुछ निर्णय करना होता था तो सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए चार बातों को प्रमाण माना जाता था : (1) वेद, (2) स्मृति, (3) शिष्ट पुरुषों का आचरण और (4) कम-से-कम दस आदमियों की सभा की सहमति। इससे यह भी सिद्ध होता है कि एक समय था जब अकेले वेद निर्भ्रान्त प्रमाण नहीं माने जाते थे। वशिष्ट के धर्म-सूत्रों का यही समय था।

आपस्तम्ब सूत्र तो वेदों को किसी भी प्रकार की प्रामाणिकता से मण्डित करता ही नहीं। जिस सभा का निर्णय कानून माना जाता था, उसका सदस्य चुने जाने के लिए वेदों का ज्ञान एक आवश्यक योग्यता मात्र थी।

गौतम धर्म-सूत्रों के समय में ही अकेले वेदों को निर्भ्रान्त प्रमाण माना गया। ऐसा क्यों?

वेदों की असाधारणता

वेदों को निर्भ्रान्त घोषित करने मात्र से वैदिक ब्राह्मण संतुष्ट नहीं हुए। वे एक कदम आगे बढ़े और वेदों को अपौरुषेय घोषित किया। इससे उनका अभिप्राय था कि वेद किसी भी पुरुष की रचना नहीं थे। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि वेदों को अपौरुषेय सिद्ध करने से वेदों का निर्भ्रान्त होना प्रतिष्ठित हो जाता है। वे एकमात्र प्रमाण माने जा सकते हैं। क्योंकि जब वे किसी भी मनुष्य की रचना ही नहीं हैं तो किसी भी मनुष्य में जो दोष हो सकते हैं, जो कमियां हो सकती हैं, जो कमजोरियां हो सकती हैं वे उनसे रहित हैं। मनुष्य के लिए निर्भ्रान्त हैं। तो भी आवश्यक है कि इस मान्यता की पृथक समीक्षा की जाए क्योंकि यह एक स्वतन्त्र सिद्धान्त है।

क्या सचमुच कोई वेदों का रचयिता नहीं है? क्या वे वास्तव में अपौरुषेय हैं? इस विषय में सबसे बड़ी गवाही, सबसे बड़ी प्रामाणिकता, अनुक्रमणियों की प्रामाणिकता है। अनुक्रमणिकाएं कहती हैं, वे और कुछ नहीं हैं, वे केवल प्राचीन वैदिक साहित्य के कुछ हिस्सों की व्यवस्थित अनुक्रमाणिकाएं हैं। हर वेद की एक अनुक्रमाणिका है। कभी-कभी किसी वेद की एकाधिक अनुक्रमाणिकाएं भी संभव हैं। ऋग् वेद की सात अनुक्रमणिकाएं विद्यमान मानी जाती हैं। शौनक की पांच, कात्यायन की एक और एक अज्ञात लेखक की एक। यजुर्वेद की तीन अनुक्रमणिकाएं विद्यमान हैं। तीनों शाखाओं के लिए एक एक—ऐत्रेयी, चर्यनियस तथा मध्यन्दिन। सामवेद की दो अनुक्रमणिकाएं हैं। एक आर्षेय-ब्राह्मण कहलाती हैं और दूसरी कहलाती है परिशिष्ट। अथर्ववेद के लिए एक ही अनुक्रमणिका विद्यमान मानी जाती है। यह बृहत सर्वानुक्रमणी नाम से जानी जाती है।

प्रो. मॅक्समुलर का कहना है कि ऋग्वेद की कात्यायन की अनुक्रमणिका सर्वाधिक प्रामाणिक अनुक्रमणिका है। इसका महत्त्व इस बात में है कि यह (1) प्रत्येक मन्त्र का पहला शब्द देती है, (2) मन्त्रों की संख्या देती है, (3) रचयिता ऋषि का और उसके परिवार का नाम देती है, (4) देवताओं का नाम देती है, (5) छन्दों का उल्लेख करती है। सर्वानुक्रमणिका का निर्देश करने से जो बात प्रकट होती है कि ऋग्वेद की रिचाओं के रचयिता ऋषि हैं। इसलिए अनुक्रमणिका के अनुसार ऋग्वेद को एक मानव रचना मानना ही पड़ेगा। दूसरे, वेदों के बारे में भी हमें परिणाम पर पहुंचना पड़ेगा।

ये अनुक्रमणिकाएं यथार्थ हैं, यह बात स्वयं ऋग् वेद में दिए गये अनेक अनुच्छेदों से प्रमाणित होती हैं, जिनमें ऋषियों ने अपने-आपको उन ऋचाओं का रचयिता कहा है।

अनुक्रमणिकाओं की गवाही के अतिरिक्त एक दूसरा प्रमाण है जो वेदों के अपौरुषेय होने के सिद्धान्त का खण्डन करता है। स्वयं ऋषियों ने वेदों को एक मानवी रचनाएं और ऐतिहासिक महत्त्व की कृतियां स्वीकार किया है। ऋगूवेद की ऋचाएं प्राचीन ऋषियों और आधुनिक ऋषियों में भेद करती हैं। जैसे–

''पहले के ऋषियों ने भी तुम्हारा आह्वान किया था। अब यह मेरी भी स्तुति सुनो।''

''हे इन्द्र! हमारी नवीनतम स्तुतियों से प्रसन्न होकर हमारे लिए धन, खाद्य सामग्री और सन्तति की व्यवस्था करो।''

वेद एक मानवीय रचना है, इस बात को प्रमाणित करने के लिए इतनी अधिक सामग्री उपलब्ध रहते हुए भी न जाने क्यों ब्राह्मणों ने इस मत का इतने आग्रह से प्रचार किया कि वेद मानवीय रचना नहीं हैं।

इतना होने पर भी कुछ ऐसे दार्शनिक भी थे जो यह मानने के लिए तो तैयार नहीं थे कि वेद सनातन या अपौरुषेय हैं, तब भी उनकी प्रामाणिकता को स्वीकार करने के लिए तैयार थे। न्याय दर्शन के संस्थापक गौतम ऋषि का कहना था–

सूत्रों की और आयुर्वेद के ग्रन्थों की प्रामाणिकता की तरह वेदों की प्रामाणिकता भी उनके रचयिताओं की योग्यता पर निर्भर करती है। क्योंकि वेदों का रचयिता योग्य था, प्रामाणिक था, सत्यवादी था इसीलिए यह बात अनुमानित होती है कि वेद प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। अब क्योंकि इन दो प्रकार के ग्रन्थों की प्रामाणिकता सर्वसाधारण को मान्य है, इसलिए वह प्रत्येक वस्तु, जिसमें वेदों की प्रामाणिकता के समान प्रामाणिक होने का तत्त्व विद्यमान है, प्रामाणिक है। अब कुछ लोगों का कहना है कि वेद कहते ही उसे हैं, जिसमें प्रामाणिकता हो। इस प्रकार के वेदपन को स्वीकार कर लेने से तो प्रत्येक बात की प्रामाणिकता स्वयंसिद्ध होगी।

वैशेषिक दर्शन वेदों को प्रामाणिक मानता है, किन्तु उसके प्रामाणिकता के आधार भिन्न हैं–

1. वेद किसी चेतन मानस की उपज हैं।
2. वे ईश्वरकृत हैं, इसलिए वे प्रामाणिक हैं।

कपिल ऋषि द्वारा स्थापित सांख्य दर्शन का कहना था कि वेदों को अनादि नहीं माना जा सकता। क्योंकि वेदों के अनेक अंश स्वयं अपने बारे में कहते हैं कि वे उत्पन्न किए गए हैं। यह स्पष्ट तौर पर इस बात को स्वीकार करने से इन्कार करता है कि यह किसी देव-स्थान की उपज हैं। सांख्य मत के अनुसार सूर्य के समान वेद स्वयं प्रकाशमान हैं। उनमें एक ऐसी दिव्य शक्ति है जिससे वे स्वयं भी प्रकाशित होते हैं तथा दूसरी सभी वस्तुओं को भी प्रकाशित करते हैं–भूत और वर्तमान् की, बड़ी और छोटी, नजदीक की और दूर की।

वेदान्त दर्शन दो भिन्न-भिन्न मतों का समर्थन करने वाला मालूम होता है।

इसका मन्तव्य है कि वेदों का मूल ब्रह्म है या वह मूलकारण है। वह ब्रह्म पुल्लिंग नहीं है, साकार ब्रह्मा, बल्कि ब्रह्मन् है, न स्त्रीलिंग न पुल्लिंग—परम सत्ता। यह वेदों के अनादि होने की बात को भी मानता है और आत्माश्रित रचयिता के अस्तित्व को स्वीकार करता है।

ब्राह्मण तर्क से सन्तुष्ट नहीं रहे कि वेदों की रचना किसी भी मनुष्य के हाथों नहीं हुई। वे बहुत आगे बढ़े और कहा कि वेद ईश्वरकृत भी नहीं हैं। पूर्व मीमांसा के संस्थापक जैमिनी का यही मत है। अपने इस मत के पक्ष में उसने जो तर्क दिए हैं वे इतने विचित्र हैं कि उनकी विचित्रता का अहसास करने के लिए उनकी जानकारी आवश्यक है।

यह वेदों के अपौरुषेय होने का सिद्धान्त ब्राह्मण-दर्शन के एक ग्रंथ पूर्वमीमांसा में दिया है। उस ग्रन्थ के निम्नलिखित उद्धरण उसमें वर्णित तर्क का नमूना पेश करेंगे।

पूर्व मीमांसा का संस्थापक जैमिनी पहले नैयायिकों के तर्क का परीक्षण करता है जो वेदों को परमेश्वर की रचना मानते हैं और पूर्व पक्ष के रूप में, नैयायिकों का मत उपस्थित करता है।

मीमांसकों का तर्क है—

"वेद ऐसे अशरीरी परमेश्वर द्वारा कभी भी उच्चारित नहीं हुए होंगे, जिसके मुंह में तालू नहीं है, या भाषण दे सकने लायक कोई भी अंग नहीं है। इसलिए यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि जिन वर्णों से वेद की निर्मिति हुई है, उन वर्णों का कभी उसने उच्चारण किया होगा। नैयायिकों का कहना है कि यह तर्क युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि यद्यपि ईश्वर अशरीरी है, लेकिन वह लीला की तरह अपने श्रद्धासम्पन्न लोगों के प्रति करुणार्द्र होकर शरीर धारण कर सकता है। इसलिए यह कहना कि वेदों का कोई व्यक्ति रूप से रचयिता नहीं था, सार्थक नहीं है।"

इसके आगे मीमांसकों के सिद्धान्त के पक्ष में तर्क दिए गए हैं—

"अब मैं सब कठिनाइयां दूर कर दूंगा। जिस पौरुषेयत्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया जा रहा है आखिर उस प्रौरुषेयत्व का अभिप्राय क्या है? क्या यह किसी पुरुष विशेष से उत्पन्न मात्र है, जैसे हम जैसों के मुँह से ही उत्पत्ति हुई हो? यह दूसरे ढंग से प्राप्त किए ज्ञान का क्रमीकरण मात्र है जैसे हमारे जैसे लोग किसी ग्रन्थ की रचना करते हैं। यदि पहला अर्थ अभिप्रेत है तो कोई विवाद ही नहीं।"

यदि दूसरा भाव अभिप्रेत है तो मैं जानना चाहता हूं कि क्या वेदों की प्रामाणिकता अनुमान प्रमाण पर आश्रित है, या दिव्यज्ञान (= आगम) के बल पर?

यदि वेदों की प्रामाणिकता के मूल में उनका प्रमाणानुमानाश्रित होना ही है तो यह बात सही नहीं मानी जा सकती, क्योंकि मालती माधव सदृश किसी भी लौकिक काव्य पर जो अनुमानाश्रित हो सकते हैं प्रामाणिकता की बात प्रामाणिक नहीं ठहरती। यदि तुम कहो कि दूसरे प्रामाणिक ग्रन्थों की अपेक्षा वेदों की सामग्री विशिष्ट है, तो इस व्याख्या से भी किसी भी दार्शनिक की संतुष्टि नहीं होती। क्योंकि वेद-वचन की परिभाषा है, ऐसा

वचन जो उन बातों को प्रमाणित करे जो अन्य किसी भी तरह प्रमाणित न की जा सकती हों।

अब यदि यह बात स्थापित की जा सके कि जो बातें दूसरी तरह प्रमाणित की जा सकती हैं, वेद-वचन ने भी उन्हीं बातों को प्रमाणित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया, तो हम उसी तरह के अन्तर्विरोध के शिकार हो जाएंगे, जैसा इस वचन में है कि मेरी मां बांझ है।

यदि हम इस बात को मान भी लें कि परमेश्वर ने ही लीला करने के लिए शरीर धारण कर लिया होगा, तो इसकी भी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि उस हालत में उसे स्थान, समय की दूरी पर रखे हुए ऐसे पदार्थों का ज्ञान होना चाहिए, जो उसकी इन्द्रियों से दूर हैं। फिर यह भी सोचा नहीं जा सकता कि उनकी आंखें तथा दूसरी इन्द्रियां ही इस प्रकार के ज्ञान की जनक हो सकती हैं। इन्द्रियां केवल उसी ज्ञान को उत्पन्न कर सकती हैं, जिसकी उन्हें अनुभूति हो।

गुरु प्रभाकर ने किसी सर्वज्ञ द्वारा वेदों की रचना किए जाने के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए यही कहा है। जहां कहीं भी चक्षु इन्द्रिय द्वारा किसी भी आलम्बन का साक्षात्कार होता है, वह आलम्बन भले ही कितना ही दूर का हो, या कितना ही सूक्ष्म हो, वह चक्षुइन्द्रिय का ही आलम्बन हो सकता है। क्योंकि कोई भी इन्द्रिय अपने क्षेत्र से बाहर किसी भी विषय का साक्षात्कार नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए कर्णेन्द्रिय रूप का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

"इसलिए वेदों की प्रामाणिकता किसी ऐसे दिव्य ज्ञान पर आश्रित नहीं है, जो किसी देव ने शरीर धारण करके प्राप्त किया हो।"

ये ही वे तर्क हैं जो जैमिनी ने नैयायिकों का खण्डन करने के लिए दिए हैं। तदनन्दर जैमिनी अपने इस मत की स्थापना के लिए कि वेद ईश्वर-वचन नहीं हैं, वे इससे भी बढ़कर कुछ हैं, अपने निजी तर्क देते हैं। जैमिनी की स्थापना है—

इससे पहले के सूत्रों में यह कहा गया है, शब्दों और उनके अर्थों का संबंध नित्य है। अब यह सिद्ध करना है कि शब्दों और उनके अर्थों की नित्यता शब्दों की नित्यता पर निर्भर करती है। उसके लिए पहले उन नैयायिकों का खण्डन करना होगा, जिनकी स्थापना है कि शब्द नित्य नहीं हैं।

कुछ (न्याय-दर्शन के अनुयायी) दार्शनिकों का कहना है कि शब्द एक प्रतिफल है, क्योंकि हम देखते हैं कि यह प्रयत्न की उपज है। यदि शब्द नित्य होता तो वह प्रयत्न की उपज न होता।

इसकी परिवर्तनशीलता के कारण यह नित्य नहीं है, क्योंकि एक क्षण के अनन्तर इसकी अनुभूति रुक जाती है।

क्योंकि हम इसके संबंध में 'करना' क्रिया का प्रयोग करते हैं। हम कहते हैं कि 'हम आवाज करते हैं।'

''क्योंकि एक ही समय में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को इसकी अनुभूति होती है। यदि शब्द एक ही होता और नित्य होता तो दूर और नजदीक की सभी कर्णेन्द्रियों को एक ही साथ इसकी अनुभूति कभी न हो सकती।

क्योंकि शब्दों के दो-दो रूप होते हैं, (1) मूल रूप, तथा (2) परिवर्तित रूप। उदाहरण के लिए दधि अत्र का दूसरा रूप दध्यत्र भी होता है। यह दूसरा परिवर्तित रूप सन्धि के नियमों के अनुसार सिद्ध होता है। ऐसा कोई भी पदार्थ जिसमें परिवर्तन होता हो, नित्य नहीं कहला सकता।

क्योंकि आवाज करने वालों की संख्या के अनुसार आवाज में वृद्धि हो जाती है, इसलिए मीमांसकों का जो यह कहना है कि शब्द की उत्पत्ति नहीं होती, उसका केवल प्रकटीकरण होता है, गलत है। क्योंकि हजारों प्रकट करने वाले भी किसी भी पदार्थ को जिसे वह प्रकट करते हैं, बढ़ाते नहीं हैं। हजारों प्रदीप मिलकर भी किसी घड़े को बड़ा नहीं बनाते।

मीमांसकों के इस सिद्धान्त के खिलाफ कि जो कोई भी शब्द का उच्चारण करता है, वह शब्द को उत्पन्न नहीं करता, केवल उसका प्रकटीकरण करता है, नैयायिकों की जो आपत्ति है, अब जैमिनी उसका विरोध करते हैं। जैमिनी का कथन है—

''यह जो शब्द को उत्पन्न मानने का पक्ष है, और यह जो शब्द के मात्र प्रकट होने का पक्ष है दोनों मतों के अनुसार भी कर्णेन्द्रिय की अनुभूति क्षणिक है। इन दोनों मतों में से प्रकटीकरण का मत ही सही है', यह दूसरे सूत्र में दर्शाया गया है।

किसी समय विशेष पर जो शब्द की अनुभूति नहीं होती, वह इसलिए नहीं कि शब्द उस समय नहीं रहता। शब्द तो सदैव रहता ही है। वह अनुभूति केवल इसलिए नहीं होती कि शब्द का उच्चारण करने वाला व्यक्ति अपने विषय (शब्द) के सम्पर्क में नहीं आया। शब्द नित्य है, क्योंकि उदाहरण के लिए 'क' उच्चारण को हम हमेशा एक ही तरह सुनते आए हैं। इसलिए भी क्योंकि यह उच्चारण वही है, इसको हृदयङ्गम करने का यही सरलतम उपाय है। वह उच्चारण-रहित स्थिति, जिसका शब्द के उच्चारण से संबंध होता है, वह बोलने वाले के मुंह से जो वायु की संधियों और विग्रहों का निष्कासन होता है, उनसे क्षुब्ध हो जाती हैं, तब शब्द की अनुभूति होती है। शब्द की 'अनित्यता' की आपत्ति का यह उत्तर है।

''आवाज' करना जो प्रयोग है उसका मतलब है शब्द का उच्चारण करना या उसे उपयोग में लाना।

''एक ही शब्द एक ही समय में भिन्न-भिन्न लोगों के द्वारा सुना जाता है। शब्द सूर्य के समान है। वह विशाल है, कोई छोटी-मोटी वस्तु नहीं है। इसलिए अनेक व्यक्तियों को उसकी अनुभूति हो सकती है, भले ही वे एक दूसरे से दूरी पर हों।''

''इ के स्थान पर जिस य का प्रयोग होता है, यह कोई अक्षर-परिवर्तन नहीं है, 'य' एक स्वतंत्र वर्ण है। उसका यह मतलब हुआ कि 'शब्द' में परिवर्तन नहीं होता।

''बोलने वालों की संख्या अधिक होने से जो वृद्धि होती है, वह 'आवाज' की होती है, शब्द की नहीं। आवाज का संबंध वायु के उन संधि-विग्रहों से है जो भिन्न-भिन्न दिशाओं से सुनने वालों के कानों में एक साथ प्रविष्ट होते हैं। जो वृद्धि होती है, वह इन्हीं आवाजों में होती है।

''शब्द नित्य होना ही चाहिए, क्योंकि इसके उच्चारण से दूसरे लोगों को अर्थ का बोध होता है। यदि यह नित्य और स्थायी नहीं होता, तो सुनने वाले के अर्थ-ग्रहण तक इसकी स्थिति विद्यमान न रहती। और तब वह अर्थ ग्रहण भी न कर सकता क्योंकि अब उसका कारण विद्यमान नहीं रहा।

''शब्द नित्य है, क्योंकि अनेक पुरुषों द्वारा एक साथ ही इसका सही अर्थ ग्रहण किया जाता है। यह संभव नहीं है कि सभी एक साथ एक ही गलती करें।

''जब 'गो' शब्द का दस बार उच्चारण होता है तो सुनने वाले कहेंगे कि 'गो' शब्द का दस बार उच्चारण हुआ है। यह नहीं कि 'गौ' अर्थ का बोध कराने वाले दस शब्दों का उच्चारण हुआ है। उससे भी शब्द की नित्यता सिद्ध होती है।

शब्द नित्य है, क्योंकि हमारे पास ऐसा कोई कारण नहीं है, जिसके आधार पर हम कह सकें कि शब्द का विनाश होता है।

''लेकिन यह जोर देकर कहा जा सकता है कि शब्द वायु का परिवर्तन है, क्योंकि वायु के ही संग्रह-विग्रह से इसकी उत्पत्ति होती है और क्योंकि वेदाङ्ग का भी कहना है कि वायु का आविर्भाव शब्द के लिए होता है, और क्योंकि इसकी उत्पत्ति वायु से होती है, इसलिए शब्द नित्य नहीं हो सकता।

इसका समाधान सूत्र संख्या 22 में इस प्रकार किया गया है कि शब्द वायु का परिवर्तन नहीं है। क्योंकि यदि होता तो कर्णेन्द्रिय के लिए कोई भी ऐसा आलंबन न होता, जिसे वह ग्रहण कर सकती। वायु के किसी भी परिवर्तन का कर्णेन्द्रिय को बोध नहीं हो सकता। जिसे नैयायिक लोग मूर्त मानते हैं, ऐसे किसी भी वायु के परिवर्तन का कर्णेन्द्रिय को बोध नहीं हो सकता, क्योंकि उसका आलम्बन केवल शब्द है।

''और शब्द की नित्यता का समर्थन वेद के इस वाक्य से भी होता है जहाँ कहा गया है, 'ओ विरूप! यद्यपि यहां इस वाक्य का दूसरा अर्थ है, तो भी यह भाषा की नित्यता का प्रतिपादन करता है। इसीलिए शब्द नित्य है।

वेदों के पक्ष में कि वेद नित्य हैं, न उनकी रचना किसी मनुष्य के हाथों हुई और न किसी परमेश्वर ने की, जैमिनी ने ये ही सब तर्क दिए हैं।

उसके सिद्धान्त का आधार अत्यन्त सरल है—

(1) परमात्मा का कोई शरीर नहीं है। उसका कोई तालू नहीं है। इसलिए वह वेदों का उच्चारण नहीं कर सकता।

(2) मान लो कि परमात्मा का कोई शरीर हो, परमात्मा किसी भी ऐसी चीज की जानकारी प्राप्त नहीं कर सकता, जो इन्द्रिय बोध से परे हो। वेदों में इन्द्रिय बोध से परे

की बातें हैं।

(3) शब्द और अर्थ का संबंध नित्य है।

(4) शब्द नित्य है,

(5) क्योंकि शब्द नित्य है, इसलिए सार्थक शब्द जो शब्द-निर्मित हैं, वे भी नित्य हैं।

(6) क्योंकि सार्थक-शब्द नित्य हैं, इसलिए वेद भी नित्य है। और क्योंकि वेद नित्य हैं, इसलिए उनकी निर्मिति न मनुष्य के हाथों हुई है और न परमेश्वर के हाथों।

इन आधार-वाक्यों के बारे में कोई भी क्या कह सकता है? क्या इन आधार-वाक्यों से भी अधिक कोई बे सिर पैर की बात हो सकती है? इस बात को कौन स्वीकार कर सकता है कि वेदों में ऐसी कुछ बातें हैं जो अनित्य-बोध से परे की हैं। यह बात कौन स्वीकार कर सकता है कि शब्द और अनेक अर्थों का परस्पर का संबंध नित्य है। यह कौन स्वीकार कर सकता है कि न तो शब्दों की उत्पत्ति होती है, न उनमें परिवर्तन होता है, बल्कि वे नित्य हैं?

इस तरह की बे सिर-पैर की बातों की ओर देखते हुए यह प्रश्न पैदा होता है कि ब्राह्मणों ने ऐसी भयानक स्थापना को स्थिर करने के लिए इतना भयानक प्रयास क्यों किया? क्या इसीलिए तो नहीं कि वेदों को चातुर्वर्ण का समर्थक बनाया गया, और ऐसे चार्तुवर्ण का, जिसमें ब्राह्मण सर्वोपरि हैं?

वेद हैं क्या?

यदि वेदों की शिक्षाओं को मान्य ठहराया जाय और उन्हें निर्भ्रान्त समझा जाए तो ऐसे वेद हमें जो शिक्षण प्रदान करते हैं उनका नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य होना चाहिए। कोई भी आदमी किसी चीथड़े को अपने लिए मान्य और निर्भ्रान्त नहीं स्वीकार करेगा, केवल इसलिए क्योंकि जैमिनी जैसे किसी दार्शनिक ने अपने ऐसे प्रस्ताव का समर्थन किया है। क्या वेदों का सचमुच कोई नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य है? जो कोई वेदों को निर्भ्रान्त स्वीकार करता है, ऐसे प्रत्येक हिन्दू को इस शङ्का का समाधान कर लेना ही होगा।

आधुनिक लेखकों ने वेदों के संबंध में जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे लगता है कि वेदों में कहीं कुछ भी आध्यात्मिक बातें नहीं हैं। उदाहरण के लिए प्रो. म्यूर के ही विचारों को लें। प्रो. म्यूर का कहना है—

"इन रचनाओं का सारा रंग-ढंग, और भीतरी गवाही के अनुसार उनकी जो परिस्थिति है उससे यही मत प्रकट होता है कि ये सभी वेद उन लोगों की व्यक्तिगत आशाओं और आकांक्षाओं को प्रकट करने वाले गीतों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। इन गीतों में आर्यजनों ने अपने परम्परागत देवताओं की स्तुतियां तथा प्रार्थनाएं की हैं और उनसे उन सभी तरह की बातों की याचना की है, जैसी की सभी सामान्य जन करते हैं—स्वास्थ्य की, धन की, दीर्घजीवी होने की, पशुओं की, शत्रुओं पर विजय की, पापों को क्षमा कर देने की और स्वर्ग की खुशियों की।"

यह कहा ही जाएगा कि यह सभी विदेशी पण्डितों का भारत के विरुद्ध पक्षपात है और इसीलिए उनके मत स्वीकार नहीं किए जा सकते। सौभाग्य से हम केवल विदेशियों के मत पर निर्भर करने की स्थिति में नहीं हैं। भारतीय विचारसरणी के कुछ नेताओं ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं। सबसे अधिक बदनाम मत चार्वाकों का है।

चार्वाकों का विरोध उस वाक्य के उद्धरण से प्रकट होता है, जो उनके तर्क के क्रम को स्पष्ट करता है—

"यदि तुम (प्रतिपक्षी) कहते हो कि किसी स्वर्ग में कोई सुखी जीवन नहीं, तो ज्ञानी लोग इतना धन व्यय करके अग्निहोत्र और दूसरे यज्ञ क्यों करते हैं? तुम्हारी उत्पत्ति एक

विरोधी प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि वे अग्निहोत्र आदि केवल जीविका के साधन हैं। जहां तक वेदों की बात है, वे असत्य से दूषित हैं, आत्म-खण्डन से दूषित हैं और पुनरुक्ति दोष से युक्त हैं। फिर अपने-आपको जो लोग वैदिक पण्डित कहते हैं, वे परस्पर के खंडन-मंडन में लगे रहते हैं। ज्ञान-कांडी लोग कर्म-काण्ड को नहीं मानते, कर्म-काण्डी लोग ज्ञान-काण्ड को नहीं मानते। तीनों वेद गुलामों के अण्ड-बण्ड चारण गीतों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं— का समर्थन करने वाली लोकोक्ति भी है। बृहस्पति का कथन है कि अग्निहोत्र, तीनों वेद, तपश्चर्या, त्रिदण्ड और अपने शरीर पर राख मलना बुद्धि-पौरुषहीन लोगों की जीविका के साधन मात्र हैं।''

चार्वाकों की अपेक्षा भी बृहस्पति वेदों का खण्डन करने में अधिक खड्गहस्त था। माध्वाचार्य के अनुसार बृहस्पति का तर्क था—

''न कोई स्वर्ग है, न कोई अन्तिम मुक्ति है, न किसी दूसरे लोक में रहने वाला कोई आत्मा है। चारों वर्णों और आश्रमों के कार्यों का कोई तात्त्विक फल नहीं होता। अग्निहोत्र, तीनों वेद, परिव्राजक की तीनों अवस्थाएं और अपनी देह पर राख मलना—प्रकृति ने बुद्धि-पौरुष हीन लोगों के लिए जीविका के साधन बनाए हैं। यदि ज्योतिस्तोम यज्ञ में बलि किया हुआ पशु सीधे स्वर्ग जाता है, तो यज्ञ करने वाला अपने पिता का ही बलिदान क्यों नहीं करता?

''यदि मृत रिश्तेदारों को श्राद्ध करने से लाभ होता है, तो यात्रा पर जाने वाले व्यक्तियों को ही अपने साथ खुराकी ले जाने की क्या जरूरत है?

''यदि स्वर्ग में रहने वाले पितर हमारे यहां श्राद्ध करने से सन्तुष्ट होते हों तो कोठे पर रहने वालों को यदि भोजन देना हो तो उनकी बजाय नीचे रहने वालों को ही भोजन क्यों नहीं करा दिया जाता?

''जब तक जीवन है, तब तक आदमी को सुखपूर्वक रहना चाहिए। सिर पर कर्ज भी हो जाए तब भी मजे से दूध-घी खाना चाहिए।

जब एक बार शरीर राख हो गया, तो उसका फिर शरीरी होना असंभव है।

''यदि विदा होने वाला विदा होकर स्वर्ग जाता है, तो फिर वह अपने प्रिय बन्धुओं से मिलने आने के लिए वहां बेचैन क्यों नहीं रहता?

इससे यह सिद्ध होता है कि श्राद्ध का संस्कार ब्राह्मणों की जीविका का साधन मात्र है।

ये सभी श्राद्ध-संस्कार मृतकों के लिए हैं। इनका कहीं भी, कोई भी फल नहीं होता। तीनों वेदों के रचयिता भाण्ड, धूर्त तथा निशाचर थे। ब्राह्मणों के सभी जर्फरी-तुर्फ सदृश मन्त्र, अश्वमेघ यज्ञ में शनि के लिए विधान किए गए सभी संस्कार ठगों द्वारा खोज निकाले गए हैं।

सभी तरह की दान-दक्षिणा ब्राह्मणों के लिए ही है।

इस प्रकार इन निशाचरों ने मांस खाने का भी विधान किया है।

यदि चारवाक और बृहस्पति के मत की उपेक्षा भी की जाए तो हमारे पास और भी

दूसरी बहुत-सी सामग्री है। वह सामग्री न्याय, वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा जैसे संप्रदायों के दार्शनिक ग्रन्थों में उपलब्ध है। इन दर्शनों के ग्रन्थों के रचयिताओं के पक्ष में एक बात कहनी होगी कि उन्होंने जिस पूर्व-पक्ष का खण्डन किया है, उस वेद-विरोधी मत का खण्डन करने से पहले उसे बड़ी सावधानी के साथ ठीक-ठाक उपस्थिति किया है। इस बात से हम दो बातें प्रमाणित कर सकते हैं–(1) एक सम्प्रदाय था जो वेदों की प्रामाणिकता को अस्वीकार करता था (2) वे वेद-विरोधी लोग आदरणीय लोग थे, वेदों के समर्थक लोग उनके मतों पर विचार करने के लिए मजबूर थे।

मैं यहां न्याय और पूर्व-मीमांसा में उद्धृत वेद-विरोधी लोगों का मत पूर्व-पक्ष के रूप में उपस्थित करने जा रहा हूं।

न्याय-दर्शन का संस्थापक गौतम वेदों की प्रामाणिकता के सिद्धान्त का समर्थक था। उसने सूत्र संख्या 57 में अपने विरोधियों के तर्कों का संक्षेप दिया है–

"वेद प्रामाणिक नहीं हैं, क्योंकि इनमें मिथ्यात्व का दोष है, आत्म-खण्डन का दोष और पुनरुक्ति का दोष है। जो दृश्य वस्तुओं की साक्षी से भिन्न है, वह मौखिक साक्षी भी प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि वेदों में मिथ्यात्व का दोष है, आत्मखण्डन का दोष है और दोष है पुनरुक्ति का।

"इन दोषों में से जो मिथ्यात्व का दोष है वह इससे प्रमाणित होता है, क्योंकि हम देखते हैं कि पुत्रेष्टि यज्ञ आदि करने से कभी-कभी सन्तानोत्पत्ति सदृश कोई फल नहीं होता। आत्म-खण्डन का मतलब है पूर्व-खण्डन और पर-खण्डन में भेद। वेद का कहना है कि वह सूर्योदय होने पर यज्ञ करता है, वह सूर्य के उगने पर यज्ञ करता है। जो सूर्योदय से पहले यज्ञ करता है, एक पिल्ला उसकी आहुति ले जाता है और ये दोनों उसकी आहुति ले जाते हैं जो सूर्योदय (के बाद) यज्ञ करते हैं। अब यहां एक परस्पर विरोध है उन शब्दों में जो यज्ञ करने को कहते हैं और उन शब्दों में जो यह कहते हैं कि यज्ञ करने का भयानक परिणाम होगा। फिर वेद अप्रामाणिक हैं, क्योंकि उनमें पुनरुक्ति का दोष है। वहां कहा गया है कि वह पहले हिस्से का तीन बार उच्चारण करता है, वह अन्तिम हिस्से का तीन बार उच्चारण करता है। क्योंकि वाक्य का अन्तिम अंश पूर्वांश से मेल खाता है और क्योंकि इन खास वाक्यों की कोई प्रामाणिकता नहीं है, इसलिए सारे वेद की भी यही स्थिति है। सारे वेद का यदि एक ही रचयिता हो तो वैसी स्थिति होने से यह बात सारे वेद पर लागू होती है।"

अब जैमिनी को लें। वह वेद-विरोधियों के तर्कों का सारांश पूर्वमीमांसा के 28 वें तथा 32 वें सूत्र में देता है। 28 वें सूत्र में लिखा है–

"इस पर भी आपत्ति उठाई गई है कि वेद नित्य नहीं हो सकते। क्योंकि हम देखते हैं कि जो पैदा होने वाले और मरने वाले व्यक्ति हैं, जो स्वयं नित्य नहीं हैं, उनमें उनकी चर्चा है। अब वेदों में लिखा है कि बबर प्रवाहिनी ने इच्छा की या कुसुरविन्द उद्दालकों ने इच्छा की। अब क्योंकि वेद के ये वाक्य उन लोगों के जन्म से पहले नहीं लिखे जा

सकते, जिनकी इनमें चर्चा हुई है, इससे सिद्ध होता है कि ये वाक्य सादि हैं अर्थात्! इनका कभी-न-कभी आरंभ हुआ है। क्योंकि वे नित्य नहीं हैं, इसलिए उनका मानव-रचित होना सिद्ध है।"

32वें सूत्र में है—

"यह पूछा जा सकता है कि वेदों में कर्तृत्व का प्रमाण हो ही कैसे सकता है, जब उसमें अधोलिखित वाक्यों जैसे अण्ड-बण्ड वाक्य भरे पड़े हैं। 'कम्बल ओढ़े और चप्पल पहने एक बूढ़ा बैल द्वार पर खड़ा है और आशीर्वाद दे रहा है। सन्तानोत्पत्ति की इच्छुक एक ब्राह्मणी कह रही है—'राजन! कृपया बताएं कि नये चन्द्रमा के दिन मैथुन-धर्म सेवन करने से क्या होता है?' या 'गौओं' ने यह यज्ञ किया।'

निरुक्त के रचनाकार यास्क का भी यही मत है। वे कहते हैं—

पूर्व के परिच्छेद में चार प्रकार की ऋचाएं वर्णित हैं—(1) वे जिनमें देवता अनुपस्थित हैं, (2) वे जिनमें देवता उपस्थित हैं, (3) जिनमें पुजारी उपस्थित है, और (4) वे जिनमें बोलने वाले का उल्लेख है। यह भी कि बिना किसी याचना के देवता की स्तुति की गई है, फिर बिना किसी स्तुति के देवताओं से याचना की गई है। फिर कहीं-कहीं कसमें भी खाई गई हैं और शाप दिए गये हैं। फिर कहीं-कहीं स्थिति-विशेष का भी उल्लेख है। कहीं-कहीं विलाप भी है, कहीं-कहीं दोषारापण और प्रशंसा भी है। कहीं-कहीं जुआ खेलने की 'कलि' भी अभिषप्त है। इस प्रकार वे पदार्थ जिनके ऋषिजन द्रष्टा थे, अनेक थे।

यास्क ने ही आगे कहा है—

"प्रत्येक ऋषि का एक देवता है। वस्तु-विशेष की कामना करने वाले ऋषि अपनी-अपनी प्रार्थना उसके देवता से ही करते हैं।"

यदि इतना सब होने से भी यह बात प्रमाणित नहीं होती कि वेदों में कहीं कुछ भी नैतिक तथा आध्यात्मिक सामग्री नहीं है, तो इस कथन में और भी वृद्धि की जा सकती है।

जहां तक नैतिकता की बात है, सारे ऋग् वेद में शायद ही कहीं इस विषय की चर्चा हो। ऋग् वेद में नैतिक जीवन के प्रेरणाप्रद उदाहरण भी नहीं मिले हैं। विपक्ष का समर्थन करने वाले तीन उल्लेख यहां दिए जा रहे हैं।

पहले यम और यमी की बातचीत दी जा रही है, जो भाई-बहन थे।

यमी कहती है—"क्या वह कोई भाई है जो अपनी बहन का पति नहीं बन सकता?— मैं वासना के अधीन होकर यही प्रार्थना करती हूं कि तुम मेरे साथ एक हो जाओ।"

यम कहता है—"मैं अपने व्यक्तित्व को तुम्हारे साथ नहीं जोडूंगा। जो अपनी बहन के नजदीक जाता है, लोग उसे पापी कहते हैं। मुझे छोड़कर तुम किसी दूसरे से संबंध स्थापित करो। मैं तुम्हारा भाई हूं। मेरी ऐसी कोई इच्छा नहीं है।"

कुछ ऋचाओं को लें, जो ऋग्-वेद में हैं। नमूने की ऋचाएं हैं—

"मैं इन्द्र की पत्नियों को आह्वान करता हूं कि वे मेरे स्थान पर आकर सोम-सुरा का पान करें।

"हे इन्द्र! सोम रस का पान करो, जो श्रेष्ठ है और जिसमें सबसे अधिक नशा है।"

मैं यह कह दूं कि मैंने जान-बूझकर ऐसे अनेक उद्धरणों को छोड़ दिया है, जो ऋग् वेद और यजुर्वेद में हैं, किन्तु जो अत्यन्त अश्लील हैं।

जहां तक दर्शन की बात है, वेद में उसका नाम भी नहीं है।....आर्यों के सामाजिक जीवन के बारे में कुछ जानकारी दे सकने की दृष्टि से वेदों का उपयोग हो सकता है, किन्तु उसमें ऊपर उठाने वाले प्रेरणादायक तत्त्वों का तो कहीं भी पता ही नहीं है। गुण कम हैं, अवगुण ही अधिक हैं।

(1)

अब हम अथर्ववेद की खबर लें। देखें की इसमें क्या कुछ है। हम उसकी विषय सूची देखें तो उसमें मन्त्र-यन्त्र ही भरे पड़े हैं। गिनती की जाए तो दो सौ से भी अधिक मन्त्र-यंत्र टोने-टोटके हैं।

यह नहीं समझना चाहिए कि केवल अथर्व वेद में ही जादू-टोने-टोटके हैं। ऋग्वेद में भी कमी नहीं। एक सौ से अधिक सूक्त उद्धृत किए जा सकते हैं।

यह बताने के लिए कि वेदों में न तो नैतिकता की कोई बात है और न ऐसा कुछ भी है जिसे आध्यात्मिक कहा जा सके, जितने चाहे उतने उद्धरण दिये जा सकते हैं। न तो वेद और न उनके भीतर की सामग्री इस योग्य है कि उसे किसी भी दृष्टि से प्रामाणिक माना जा सके।

तब ब्राह्मणों ने इन वेदों को पवित्रता और प्रामाणिकता का जामा पहनाने के लिए इतना परिश्रम क्यों किया है?

वेदों का निम्नतम दर्जा

हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत हैं—(1) वेद, (2) ब्राह्मण-ग्रन्थ, (3) आरण्यक, (4) उपनिषद्, (5) सूत्र, (6) इतिहास, (7) स्मृतियां, तथा (8) पुराण।

जैसा पहले दर्शाया गया है, एक समय था जब सभी ग्रन्थों का समान दर्जा था। ऊंचे दर्जे का या निम्न कोटि का, पवित्र या दुनियावी, स्खलनशील या निर्भ्रान्त—इस प्रकार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था।

आगे चलकर जैसा हम देख चुके हैं, वैदिक ब्राह्मणों को लगा कि उनके वेदों और इतर साहित्य में विभेद खड़ा करना चाहिए। उन्होंने वेदों को दूसरे साहित्य की अपेक्षा न केवल उच्चतर घोषित किया, बल्कि उसे पवित्र और निर्भ्रान्त भी ठहराया। अपने वेदों के निर्भ्रान्त होने का मत का विकास करते हुए उन्होंने अपने धार्मिक साहित्य को दो भागों में विभक्त किया—(1) श्रुति, (2) श्रुति नहीं। उन्होंने प्रथम कोटि में उक्त आठ प्रकार के धर्म-ग्रन्थों में से केवल दो प्रकार के धर्मगन्थों को स्थान दिया—(1) वैदिक संहिता (2) ब्राह्मण ग्रन्थ। शेष सारे साहित्य को उन्होंने एक ही नाम दिया—श्रुति नहीं।

(2)

यह कहना आसान नहीं है कि यह विभेद कब खड़ा किया गया। इससे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि इस विभेद का आधार क्या था? इतिहास और पुराणों को बाहर क्यों रखा गया? आरण्यक और उपनिषदों को भी बाहर क्यों रखा गया? यह बात किसी हद तक समझ में आती है कि इतिहास और पुराणों को श्रुति से बाहर क्यों रखा गया? जिस समय यह विभाजन हुआ उस समय शायद यह आरंभिक अविकसित अवस्था में थे और हो सकता है कि इनकी गिनती ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तर्गत श्रुति के अन्तर्गत नहीं की गई है? वे ब्राह्मण ग्रन्थों का एक हिस्सा हैं और इसलिए कदाचित यह कहना अनावश्यक था कि वे श्रुति के अन्तर्गत हैं। उपनिषदों और सूत्र ग्रन्थों का प्रश्न एक पहेली है। इन दोनों को श्रुति से बाहर क्यों रखा गया? उपनिषदों की चर्चा हम एक दूसरे परिच्छेद में करने वाले हैं। यहां विचारणीय प्रश्न सूत्रों को लेकर ही है। क्योंकि सूत्रों के बहिष्कार की बात

सरलता से समझ में नहीं आ सकी। जिन कारणों से ब्राह्मण-ग्रन्थों की गिनती श्रुति के अन्तर्गत की गई, उन्हीं कारणों से सूत्र-ग्रन्थों की भी गिनती श्रुति के अन्तर्गत की जानी चाहिए थी। श्रुति से सूत्रों का बहिष्कार एक पहेली है, जिसे बूझने की आवश्यकता है।

कुछ और भी पहेलियां हैं, जिनकी ओर किसी भी खोजी का ध्यान जाता है। उनका संबंध उस साहित्य के परिवर्तनों से है जो श्रुति शब्द के अन्तर्गत गिना जाता है और उस साहित्य की सापेक्ष प्रामाणिकता से।

एक ऐसी ही पहेली ब्राह्मण-ग्रन्थों को लेकर है। समय था जब ब्राह्मण-ग्रन्थों की गिनती 'श्रुति' शब्द के अन्तर्गत थी। आगे चलकर ऐसा लगता है, कि उनका दर्जा घट गया। लगता है मनु ब्राह्मण-ग्रन्थों का समावेश 'श्रुति' शब्द के अन्तर्गत नहीं करता। उसकी अपनी स्मृति इसका प्रमाण है–

"श्रुति से अभिप्राय है वेद और स्मृति से विधि-विधान।.....जो अपने कर्तव्यों के बारे में जानकारी करना चाहते हैं, उनके लिए श्रुति ही सर्वाधिक प्रमाण-भूत है।"

तो ब्राह्मण-ग्रन्थों का श्रुति से कैसे निष्कासन हुआ?

(3)

अब हम उस साहित्य की ओर ध्यान दें जो स्मृतियां कहलाता है। उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्मृतियाँ हैं–मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति। स्मृतियों की रचना में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही और यह क्रम अंग्रेजों के आगमन तक जारी रहा। मित्र मिश्र 57 स्मृतियों का उल्लेख करता है, नीलकान्त 27 का और कमलाकर 131 का। हिन्दुओं द्वारा पवित्र माने जाने वाले साहित्य के किसी भी दूसरे वर्ग से स्मृति-साहित्य अधिक है।

स्मृतियों और वेदों के परस्पर संबंध को लेकर अनेक विचारणीय विषय हैं।

पहली बात तो यह कि स्मृतियों को उस धर्मशास्त्र का अंग नहीं माना जाता था, जिसका प्रतिनिधित्व बौधायन, गौतम या आपस्तम्ब सूत्र करते थे। आरंभ में स्मृतियों का संबंध उन सामाजिक रीति-रिवाजों से था जिनको समाज के मान्य नेताओं ने मान्यता दे रखी थी। प्रो. अल्तेकर ने कहा–

"आरंभ में स्मृतियां सदाचार का पर्याय थीं। वे सदाचार पर ही आश्रित थीं। जब स्मृतियां अस्तित्व में आईं तो स्वाभाविक तौर पर सदाचार का क्षेत्र सीमित हो गया। क्योंकि इसका पर्याप्त अंश स्मृतियों द्वारा 'कानून' के रूप में मान्य हो गया। जो ऐसे पुराने रीति-रिवाज थे, जिन्होंने स्मृतियों की नियमबद्धता स्वीकार न की थी, या वे नये रीति-रिवाज थे, जिन्होंने आरंभिक धर्मशास्त्रों या स्मृतियों के रचनाकाल के बाद सामाजिक मान्यता स्वीकार की थी, सदाचार उन्हीं का पर्याय रह गया।"

दूसरी बात जो ध्यान देने की है वह यह कि वेदों या श्रुतियों से पृथक स्मृतियों की अपनी मान्यता थी। जहां तक उनकी प्रामाणिकता का प्रश्न था, उनका अपना एक निजी

स्तर था। श्रुतियां पारलौकिक थीं, स्मृतियां लौकिक तथा समाजिक थीं। उनकी प्रामाणिकता के संबंध में पूर्व मीमांसा ने दो नियमों का उल्लेख किया है। पहला नियम है कि यदि श्रुति के दो कथनों में परस्पर विरोध हो तो दोनों को मान्यता दी जाए अर्थात दोनों में से किसी भी एक के अनुसार आचरण किया जा सकता है। दूसरा यह कि यदि स्मृति श्रुति के विरुद्ध हो तो बिना अधिक विचार किए स्मृति को त्याज्य ठहरा दिया जाए। इन नियमों का कड़ाई से पालन किया गया। इसका फल यह हुआ कि स्मृतियों को वेदों का-सा दर्जा नहीं मिल सका।

यह निस्सन्देह चकित कर देने वाली बात है, किन्तु एक समय आया जब ब्राह्मणों ने ऐसा पलटा खाया कि उन्होंने स्मृतियों को श्रुतियों के भी ऊपर जा बिठाया। प्रो. अल्तेकर की सूचना है–

"श्रुतियों के किन्हीं विशेष आदेशों को वास्तव में स्मृतियों ने निषिद्ध ठहरा दिया है। ऐसे आदेशों को जो युग-धर्म से मेल न खाते थे, जिनका सीधा विरोध था। वैदिक परम्परा थी कि प्रातःकाल के समय दैव-कर्म किया जाए और अपराह्न के समय पितृ कर्म । आगे चलकर आधुनिक पितृ-तर्पण की चाल चल पड़ी और यह सुबह के समय किया जाने लगा, क्योंकि सुबह के समय स्नान करना लोगों का सामान्य अभ्यास हो गया। अब ऊपर जिस नियम की चर्चा की गई है उससे यह अभ्यास एकदम विरुद्ध है। स्मृति चन्द्रिका के लेखक देवभट्ट का कहना है कि इसमें कुछ भी आपत्तिजनक नहीं। श्रुति का नियम यह मान लेना चाहिए कि तर्पण के अतिरिक्त श्रुति का संबंध किसी दूसरे पितृ कर्म से होगा। श्रुति साहित्य का कहना है कि यद्यपि उसके 100 पुत्र जीवित थे, तब भी विश्वमित्र ने सुनस्सेप को गोद लिया। इससे यदि किसी के बहुत से पुत्र जीवित हों, तब भी उसे एक और पुत्र को गोद लेने की अनुमति मिल जाती है। लेकिन मित्र मिश्र का कहना है कि इस प्रकार का अर्थ निकालना गलत होगा। हमें यह मान लेना होगा कि स्मृति के अनुसार जो आचरण किया जाता है, वह भी श्रुति पर आश्रित है। यह श्रुति अब विद्यमान नहीं है, लेकिन यह मान लेना होगा कि यह कभी-न-कभी रही होगी।"

"वेद में स्पष्ट रूप से किसी पुत्र का गोद लेना मना किया गया है। बाद में स्मृति-साहित्य ने स्पष्ट रूप से इसकी अनुमति दी है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि स्मृति ने श्रुति की सर्वथा उपेक्षा कर दी है। लेकिन मित्र मिश्र का कहना है कि इस व्यवहार में कुछ भी गलत नहीं है। श्रुति का जो उद्धरण है, वह केवल अर्थवाद है, वह कुछ करने को नहीं कह रहा है। दूसरी ओर स्मृतियां गोद लेने का समर्थन करती हैं, ताकि होम आदि विधिवत् किये कराए जा सकें।

श्रुति की इस प्रकार स्मृति के द्वारा अवमानना हो रही है, क्योंकि स्मृति में विधि है, कुछ करने को कहा गया है।"

"बाद के समय में जो सती की प्रथा आरंभ हुई, वह आत्म-हत्या के संबंध में जो वेद का आदेश है, उसके एक दम विरुद्ध है। किन्तु अपरर्क का तर्क है कि जो रिवाज

है, उसे वेद-विरोधी नहीं मानना चाहिए। क्योंकि जो श्रुति का आदेश है, वह आत्महत्या को निषिद्ध ठहराते हुए एक सामान्य आदेश है। स्मृतियों ने विधवा को इस नियम का अपवाद माना है।"

सती-प्रथा अच्छी है, या बुरी है, यह पृथक प्रश्न है। किसी-न-किसी तरह यह प्रथा समाज-सम्मत हो गई। स्मृतियों ने उसे धर्म की दृष्टि से भी अनुकरणीय ठहराया और वेद के विरुद्ध होने की कीमत पर भी ऐसा निश्चय किया।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि वेदों को सर्वाधिक प्रामाणिक ठहराने के लिए इतना अधिक परिश्रम करने के अनन्तर ब्राह्मणों ने स्मृतियों को प्रामाणिकता की दृष्टि से वेदों के भी ऊपर ले जाकर क्यों बिठाया? उन्होंने वेदों को पारलौकिक सिद्ध करने के लिए इतना कुछ किया। जिन स्मृतियों को केवल सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी अब उन्हीं स्मृतियों से भी नीचे वेदों को घसीट लाकर बिठाने का प्रयास क्यों किया?

इसके लिए उन्होंने जो उपाय किया वह इतना अधिक बुद्धिकौशलपूर्ण और बनावटी था कि आदमी को यह ख्याल आता ही है कि कोई-न-कोई ऐसी खास वजह रही होगी जिसके कारण ब्राह्मणों ने स्मृतियों को वेदों के भी ऊपर बिठा दिया।

बुद्धिकौशल के एक तर्क के नमूने के तौर पर हम कुमारिल भट्ट का तर्क पेश कर सकते हैं। उनका तर्क 'खोयी गई श्रुति' पर आधारित है। स्मृतियों की ओर से यह तर्क दिया गया था कि भले ही वे श्रुति-विरोधी भी हों, तब भी उनके आदेश की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि यह भी बहुत संभव है कि उनका आधार कोई-न-कोई 'खोई गयी श्रुति' रहा हो।

इसलिए जो विरोध है वह श्रुति के किसी पाठ-विशेष और स्मृति के बीच नहीं है, वह विरोध है विद्यमान श्रुति और खोई गई श्रुति के बीच। इस प्रकार स्मृति को "खोई गई श्रुति" कहा जाने लगा।

एक बनावटी तर्क का उदाहरण देना हो तो बृहस्पति के मत का उल्लेख किया जा सकता है। बृहस्पति का कहना है कि श्रुति और स्मृति ब्रह्म की दो आंखें हैं। यदि दोनों में से एक आंख जाती रहे तो ब्रह्म काना हो जाएगा।

स्मृतियों को यदि श्रुति से श्रेष्ठतर नहीं तो कम-से-कम उनकी बराबरी का दर्जा देने के लिए ब्राह्मणों ने एक तीसरा तरीका भी इख्तियार किया। यह अत्रि स्मृति में दृष्टिगोचर होता है। अत्रि का कहना है कि जो स्मृतियों का सम्मान नहीं करेंगे वे अभिशप्त होंगे। अत्रि का तर्क है कि श्रुति और स्मृति के सम्मिलित अध्ययन से ही ब्राह्मण्य की उत्पत्ति होती है। यदि कोई आदमी केवल वेदों का अध्ययन करता है और स्मृतियों से घृणा करता है, तो उसे 21 जन्मों तक पशु योनि में जन्म ग्रहण करना पड़ेगा।

ब्राह्मणों को ऐसी क्या जरूरत पड़ी थी कि उन्होंने स्मृतियों को भी श्रुतियों के बराबर का दर्जा दिलाने के लिए इतने उत्कट साधनों का प्रयोग किया? उनका उद्देश्य क्या था? उनका इरादा क्या था?

प्रो. अल्तेकर का यह तर्क कि स्मृतियों को वेदों से भी ऊपर का स्थान इसलिए दिया गया, क्योंकि वे परंपरागत रीति-रिवाज को कानून का स्वरूप देती थीं, पर्याप्त नहीं है...इसके लिए कोई दूसरा भी ऐसा कारण होना चाहिए कि ब्राह्मणों ने स्मृतियों को क्यों वेदों से भी ऊपर ले जाकर बिठाया? ब्राह्मणों ने स्मृतियों के माध्यम से यही किया है कि वेदों में जो अप्रगतिशील अंश था, अर्थात् चातुर्वर्ण, उसे लिया, उसका प्रचार किया और ठोंक-पीटकर लोगों के सिर में घुसाया।

ब्राह्मणों ने इतनी ही कलाबाजी से काम नहीं लिया, उन्होंने आगे और भी करतब दिखाये।

स्मृतियों के बाद पुराणों का नंबर आता है। 18 पुराण हैं, 18 उपपुराण हैं, कुल मिलाकर छत्तीस। एक तरह से देखा जाए तो पुराणों में वर्णित विषय समान ही हैं। वे सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और विनाश की चर्चा करते हैं। लेकिन कुछ बातों में वे परस्पर भिन्न भी हैं। कुछ ब्रह्म की पूजा सिखाते हैं, कुछ शिव की, कुछ विष्णु की, कुछ वायु की, कुछ अग्नि की, कुछ सूर्य की और कुछ देवियों की तथा दूसरे-दूसरे देवी-देवताओं की।

जैसे कहा गया है, एक समय था जब पुराणों की गिनती श्रुति के अन्तर्गत नहीं होती थी। ऐसा लगता है कि आगे चलकर एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। जिन पुराणों को उतना अधिक सांसारिक माना जाना था कि उनकी गिनती 'श्रुति' के अन्तर्गत नहीं की जाती थी, उन्हें श्रुति से भी ऊपर बिठा दिया गया।

वायु-पुराण का कथन है–

''सभी शास्त्रों से पूर्व, सबसे पहले ब्रह्मा ने पुराणों का उच्चारण किया। वेद ब्रह्मा के मुंह से बाद में बाहर आए।''

मत्स्य पुराण का कथन इतना ही नहीं है कि पुराणों की उत्पत्ति वेदों से पहले हुई, बल्कि वे ही गुणों में भी श्रेष्ठतर हैं, वे ही शब्द के साथ तादात्म्य हैं। कभी यह बात अकेले वेदों के बारे में की जाती थी।

मत्स्य पुराण का ही कहना है–

''जितने भी अमर प्राणी हैं, उनमें सबसे पहले ब्रह्मा ने आकार धारण किया। उसके बाद अपने वेदांगों और उपांगों के साथ वेदों ने। उस समय उनकी रचना के बहुत से स्वरूप प्रकट हुए। जो पुराण नित्य थे, पवित्र 'शब्द' से उत्पन्न थे, सौ करोड़ श्लोकों से युक्त थे, ब्रह्मा के मुख से निकले शास्त्रों में प्रथम थे, बाद में मुंह से वेद बाहर आए। बाद में मीमांसा और अपने आठ प्रकार के प्रमाणों के साथ न्यायदर्शन प्रकट हुआ।

भागवत पुराण वेदों जैसी ही प्रामाणिकता का दावा करता है। उसका कथन है–

''ब्रह्मरात्र ने भागवत पुराण की रचना की सूचना दी। भागवत पुराण का दर्जा वेदों के समान है।''

ब्रह्मवैवर्त पुराण अपने-आपको वेदों से भी ऊपर होने की घोषणा करता है। इसका कथन है–

"जिन सन्माननीय ऋषि के बारे में तुम जानना चाहते हो, मेरे सुपरिचित हैं, पुराणों का सार भी ज्ञात है, और ज्ञात है प्रसिद्ध ब्रह्मवैवर्त पुराण, जो दूसरे पुराणों, उपपुराणों और वेदों के दोष दर्शन कराता है।"

अपने पवित्र ग्रन्थों को प्राथमिकता, अग्रता तथ प्रामाणिकता दिलाने के लिए ब्राह्मणों ने यहां एक और कलाबाजी से काम लिया।

यह वेदों को जलील करने की पूरी कहानी नहीं है। आगे और भी दुष्टता है। पुराणों के बाद एक और तरह के साहित्य ने जन्म ग्रहण किया, जो तन्त्र कहलाया। उनकी संख्या पर्याप्त अधिक है। शङ्कराचार्य ने 64 तन्त्रों का उल्लेख किया है। इनकी संख्या और भी अधिक होगी।

परम्परागत मत है कि इन ग्रन्थों की रचना दत्तात्रेय ने की थी। ब्रह्मा, विष्णु, महेश हिन्दुओं के त्रिदेव के अवतार दत्तात्रेय थे। इसीलिए वे तीन परम् देवताओं का आविर्भाव भी माने जाते हैं। साकार रूप में सब अकेले शिव पर निर्भर करते हैं, जो अपनी दुर्गा या काली पत्नी से बातचीत करते समय उन दिव्य सिद्धान्तों तथा मान्यताओं को प्रकट करते हैं, जिन्हें उस मत के अनुयायियों को स्वीकार करना चाहिए और पूजना चाहिए। यह प्रामाणिक या उच्चस्तरीय ज्ञान कहा जाता है कि ब्रह्मा के केन्द्रीय अर्थात 'पांचवें' मुख से बाहर आया था। इस तरह से यह प्रसिद्ध रूप से पवित्र होने के साथ-साथ रहस्यमय भी है और जो उस मत में दीक्षित हैं, केवल उनकी [illegible] यहां तक पहुंच होनी चाहिए। ये ग्रन्थ 'आगम' भी कहलाते हैं और वेदों, धर्मशास्त्रो [illegible] त्र ग्रन्थों अथवा निगमों से विशिष्ट माने जाते हैं।

तन्त्र विशेष रूप से शाक्तों तथा उन जैसे दूसरे सम्प्रदायों के धर्म-ग्रन्थ माने जाते हैं। अनेक भिन्न-भिन्न परम्पराओं वाले बहुत से तान्त्रिक सिद्धान्त हैं। उनके अपने निकटतम अनुयायियों द्वारा ही उनके भेद और विभेद समझे जा सकते हैं। दक्षिणाचारियों के तन्त्रों के धार्मिक क्रियाकलाप पवित्र माने जाते हैं और समझा जाता है कि वे वेदों के अनुकूल हैं। वामाचारियों के आचार केवल शूद्रों के लिए ही विहित हैं।

पुराणों के शिक्षण की ही तरह तन्त्रों का शिक्षण भी भक्ति-मार्ग पर आश्रित है, जो कि ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों के ज्ञान-मार्ग तथा कर्म-मार्ग से उच्चतर माना जाता है। साकार देवत्व की पूजा प्रतिष्ठित है, खास तौर पर शिव की पत्नी पार्वती की, जोकि समस्त उत्पादन प्रक्रिया का मूल मानी जाती हैं। इस सारे वाङ्मय में स्त्री-पक्ष को ही साकार किया गया है और पुरुषत्व का एक प्रकार से बहिष्कार कर दिया गया है।

तन्त्रों और वेदों का आपसी संबंध क्या है? मनुस्मृति के प्रसद्धि भाष्यकार कुल्लुक भट्ट को यह कहने में कोई आपत्ति नहीं कि श्रुति के दो प्रकार हैं—वैदिक तथा तान्त्रिक, जिसका मतलब हुआ कि वेदों तथा तन्त्रों का दर्जा एक जैसा है। जबकि कुल्लुक भट्ट जैसे वैदिक ब्राह्मण तन्त्रों और वेदों को बराबर का दर्जा देते हैं, तन्त्रों के रचयिता इससे बहुत आगे बढ़े हैं। उनका कहना है कि वेद, शास्त्र और पुराण एक सामान्य स्त्री के समान

है और तन्त्र एक उच्च कुलोत्पन्न महिला के समान। इसका मतलब हुआ कि उनकी मान्यता के अनुसार तन्त्र वेदों के ऊपर हैं।

इस पर्यवेक्षण से एक बात स्पष्ट हो गई। जिन ग्रन्थों को वे अपना धर्मग्रन्थ करके पूजते रहे हैं उनके बारे में उनके मत स्थिर नहीं रहे हैं। उन्होंने अपनी इस मान्यता को प्रतिष्ठित करने के लिए कि वेद न केवल पवित्र थे, बल्कि निर्भ्रान्त भी थे, भयानक संघर्ष किया। उन्होंने वेदों को निर्भ्रान्त ही नहीं माना, उन्होंने उन्हें निर्भ्रान्त सिद्ध करने के लिए बेसिर-पैर के विचित्र विचित्र-तर्कों का आविष्कार किया। इतना होने पर भी उनके उन्हीं वेदों को पहले स्मृतियों से, बाद में पुराणों से और अन्त में तन्त्र-ग्रन्थों से भी नीचे धकेलने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई।

तो बड़ा प्रश्न है कि जो ब्राह्मण अपने वेदों को धर्म-ग्रन्थ मानते थे उन्हीं वेदों को उन्हें स्मृतियों, पुराणों तथा तन्त्रों से भी अधःस्तरीय बनाने से क्या मिला?

वेद-विरोधी उपनिषद्

वेदों के संबंध में उपनिषदों की क्या स्थिति है? क्या दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, या परस्पर विरोधी हैं? इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई भी हिन्दू यह स्वीकार नहीं करेगा कि वेद और उपनिषद परस्पर विरोधी हैं और दोनों एक ही विचार-सरणी के पोषक हैं। क्या यह विश्वास यथार्थ है?

इस प्रकार के विश्वास का जो बड़ा कारण है कि उपनिषदों का ही एक दूसरा नाम प्रचलित हो गया है, और वह है वेदान्त। वेदान्त शब्द के दो अर्थ हैं। इसका एक अर्थ तो यह समझा जा सकता है कि ये वेदों का अंतिम हिस्सा है। दूसरा अर्थ 'वेदों का सार' भी किया जा सकता है। क्योंकि उपनिषदों का एक नाम 'वेदान्त' भी है इसलिए धीरे-धीरे उपनिषद् शब्द के उक्त दोनों अर्थ भी अपने-आप में रूढ़ हो गए हैं।

उपनिषद् शब्द के ये जो दो अर्थ दिए गए हैं, ये कहां तक यथार्थ हैं? अच्छा होगा कि हम सबसे पहले वेदान्त शब्द पर ही विचार करें। 'वेदान्त' का मतलब वेद का अन्त मात्र है, ये वेदादौ स्वरः प्रोक्तः वेदान्ते च प्रतिष्ठितः जो ॐ वेद के आदि में भी है और वेद के अन्त में भी प्रतिष्ठित है। यहां 'वेदान्त' शब्द केवल वेदादौ शब्द का प्रतिवचन है, इसका अनुवाद सायणाचार्य की तरह 'वेदान्त' या उपनिषद शब्द से करना ठीक नहीं।

गौतम धर्म-सूत्रों द्वारा इस बात की पुष्टि होती है कि गौतम के समय में उपनिषद और वेदान्त में भेद था और वे वैदिक साहित्य का एक हिस्सा नहीं माने जाते थे। हरिदत्त ने अपने भाष्यों में लिखा है, 'आरण्यकों के वे भाग, जो उपनिषद् नहीं हैं, वेदान्त कहलाते हैं।' यह इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि उपनिषदों की गिनती वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत नहीं होती थी और उनका स्थान बाहर-ही-बाहर था।

भगवद्गीता में जो 'वेद' शब्द प्रयुक्त हुआ, उससे भी इस दृष्टिकोण का समर्थन होता है। भवगद्गीता में वेद शब्द अनेक जगहों पर प्रयुक्त हुआ। श्री भट्ट का कहना है कि भगवद्गीता में 'वेद' शब्द का जिन अर्थों में प्रयोग हुआ है उससे स्पष्ट होता है कि उपनिषदों की गिनती वेद के अन्तर्गत नहीं की जाती थी।

उपनिषदों का विषय वेद के विषय से भिन्न है। यह इस बात का अतिरिक्त कारण है और उपनिषद वेद के अन्तर्गत नहीं हैं। उपनिषद शब्द का मूल क्या है? बहुत से

यूरोपियन विद्वानों ने इस शब्द का अर्थ आचार्य के समीप बैठना किया है।

प्रो. मैक्समूलर की इस व्युत्पत्ति के विरुद्ध दो आपत्तियां हैं। अतः उन्हें यह अर्थ अमान्य है।

उनकी अपनी और अनेक भारतीय दार्शनिकों द्वारा मान्य की गई व्युत्पत्ति है जो अविद्या का नाश करते हैं, वे उपनिषद हैं। यदि प्रो. मैक्समूलर का सुझाव ठीक है, तो इस विषय में यह एक और प्रमाण हो जाता है कि वेद और उपनिषद् परस्पर एक दूसरे के पूरक नहीं हैं, वे दोनों परस्पर विरोधी हैं। उन दोनों के बारे में सामान्य हिन्दुओं की जो मान्यता है, वह एकदम गलत है। उपनिषदों की विचार-सरणी वेदों की चिन्तन-परम्परा से सर्वथा भिन्न है, यह बात सन्देह से परे है।

मुण्डक उपनिषद का कहना है—

दो विद्याएं विदित की जानी चाहिए—परा विद्या और अपरा विद्या। अपरा विद्या के अन्तर्गत—ऋग्वेद, यजुर्वेद आते हैं—तथा ज्योतिष। और परा विद्या वह है जिससे नित्यता का बोध होता है, स्पष्ट ही उपनिषदों की ओर संकेत हैं।

छांदोग्य उपनिषद् का कथन है—

'नारद सनत्कुमार के पास पहुंचे—'ऋषिवर! मुझे ज्ञान दें।' नारद को उत्तर मिला—'मेरे पास आकर मुझे वह सब कुछ बताओ, जो तुम जानते हो। इसके आगे जो कुछ भी ज्ञातव्य है, वह मैं तुम्हें बताऊंगा।' (2) नारद ने उत्तर दिया—ऋषिवर! मैं ने ऋग्वेद पढ़ा है, सामवेद पढ़ा है, यजुर्वेद पढ़ा है, चौथा अथर्ववेद पढ़ा है, जो वेदों के भी वेद पांचवें वेद इतिहास-पुराण हैं, उन्हें पढ़ा है। पितृ-धर्म को पढ़ा है, गणित का ज्ञान प्राप्त किया है, अपशकुन शकुनता पहचाना हूं, महान युगों को पहचानता हूं, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र से परिचित हूं, देव-विद्या से परिचित हूं, पवित्र ग्रन्थों को जानता हूं, प्रेत-विद्या, युद्ध-विद्या का ज्ञान है, मुझे ज्योतिष का ज्ञान है, सर्पों तथा देवताओं के बारे में जानकारी है, यह सब मैं जानता हूं। ऋषिवर! मैं केवल मन्त्रों को जानता हूं। मुझे आत्मा के बारे में कुछ ज्ञान नहीं। लेकिन मैं ने आप सदृश मुनिवरों से सुना है—जो आत्मा को जान लेता है वह दुख का अतिक्रमण कर जाता है। ऋषिवर! मैं दुखी हूं। आप मुझे मेरे दुख का अन्त सुझा दें।'

सनत्कुमार ने उत्तर दिया—'यह जो कुछ भी तुमने अध्ययन किया है, वह सभी कुछ 'नाम' भर है। (4) ऋग्वेद 'नाम' भर है—नाम भर की पूजा है। जो ब्रह्म मानकार 'नाम' की पूजा करता है, वह ब्रह्म शब्द के अधीन जो कुछ आ जाता है, उसे ग्रहण करता है।' नारद स्थविर ने पूछा—'मुनिवर! क्या कोई ऐसी भी स्थिति है जो 'नाम' के ऊपर है।' सनत्कुमार का उत्तर था, ऐसी स्थिति है। नारद की याचना थी, मुझे बतायें।''

बृहदारण्यक उपनिषद का कथन है—

'ध्यान की उस स्थिति में पिता पिता नहीं रहता, मां मां नहीं रहती, संसार संसार नहीं रहता, देवता देवता नहीं रहते, वेद वेद नहीं रहते, यज्ञ यज्ञ नहीं रहते। उस स्थिति में एक चोर चोर नहीं होता, भ्रूणहत्या करने वाला भ्रूणहत्या करने वाला नहीं होता, एक

पुलकस, पुलकस नहीं होता, एक चाण्डाल, चाण्डाल नहीं होता, एक श्रमण, श्रमण नहीं रहता, एक उपासक-उपासक नहीं रहता। उस समय मुनि लाभालाभ से उपर हो जाता है, पुण्य-पाप से उपर उठ जाता है, क्योंकि तब वह सभी प्रकार के दुःखों की सीमा लांघ जाता है।'

कठोपनिषद् में वर्णित है—

'आत्मा का ज्ञान अध्ययन से प्राप्त नहीं होता, बुद्धि से प्राप्त नहीं होता, धर्म ग्रन्थों से भी प्राप्त नहीं होता। उसे वही प्राप्त कर सकता है, जिसका आत्मा चुनाव करता है, या करती है। आत्मा स्वयं उस आदमी के शरीर को अपना निवास-स्थान बनाता है या बनाती है।'

'यद्यपि इस आत्मा को जानना सहज नहीं, तो भी उचित उपायों से इसकी जानकारी सहज है...आत्म ज्ञान न शिक्षण से होता है, न बुद्धि से होता है और न बहुत से वेदों का अध्ययन करने से होता है।...तो फिर इसकी प्राप्ति कैसे होती है?'

उपनिषदों के प्रति और उनके दर्शन के प्रति कितना अधिक विरोध का भाव था, यह अनुलोम तथा प्रतिलोम शब्दों के मूल का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है। ये दोनों शब्द सामान्यतया हिन्दुओं के विवाह संबंध के सिलसिले में प्रयुक्त होते हैं। उनके मूल की चर्चा करते हुए श्री. केन महाशय ने लिखा है—

'यह अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों शब्द हिंदुओं के विवाह के संबंध में जिनका प्रयोग किया जाता है, वैदिक वाङ्मय में इन ही अर्थों में कहीं प्रयुक्त होते ही नहीं। बृहदारण्यक उपनिषद और कौशीतकी उपनिषद में इनका उपयोग 'ब्राह्मन' के बारे में, एक ब्राह्मण के किसी क्षत्रिय आदि के पास जाने के सिलसिले में हुआ।

अनुलोम का मतलब है लोम के अनुकूल अर्थात् स्वाभाविक क्रमानुसार। प्रतिलोम का मतलब है लोक के विरुद्ध अर्थात् स्वाभाविक क्रम के प्रतिकूल। प्रतिलोम शब्द की उत्पत्ति के बारे में श्री. केन महाशय ने जो अभिमत व्यक्त किया है उससे स्पष्ट होता है कि वैदिक ब्राह्मण यदि उपनिषदों को घृणा की दृष्टि से नहीं देखते थे, तब भी उनके लिए उपनिषद् अत्यन्त उपेक्षणीय थे। इस बात को प्रकट करने का यह एक अतिरिक्त प्रमाण है कि एक समय था जब वेदों और उपनिषदों का 3 और 6 का संबंध था।

वैदिक ब्राह्मणों का उपनिषदों के पण्डित ब्राह्मणों के प्रति कैसा भेदभाव था, इसका उदाहरण बौद्धायन धर्म-सूत्र वा सूत्र-विशेष है। बौद्धायन अपने धर्म-सूत्र (8/3) में कहते हैं कि किसी श्राद्ध संस्कार में किसी रहस्यवादी ब्राह्मण को तभी निमंत्रित किया जाए, जब कोई दूसरा ब्राह्मण न मिले।

कहना अनावश्यक है कि रहस्यवादी ब्राह्मण से ऐसा ही ब्राह्मण अभिप्रेत था, जिसने उपनिषदों का गंभीर अध्ययन किया हो।

यह विश्वास कि वेद और उपनिषद परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं, कैसे उत्पन्न हुआ, यह अपने में एक पहेली हैं?

वेद उपनिषदों के ऊपर

पिछले परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया है कि आरंभ में उपनिषद् वेदों का हिस्सा न थे, और सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों परस्पर विरोधी थे। बाद में दोनों के परस्पर संबंध का विषय रोचक अध्ययन है। आगे चलकर दोनों का आपसी संबंध क्या रहा, यह जैमिनी तथा बादरायण नाम के दो दार्शनिकों के आपसी विवाद से स्पष्ट होता है।

जैमिनी मीमांसा-सूत्रों का रचयिता है, बादरायण ब्रह्म-सूत्रों का। जैमिनी वेदों का समर्थक है, बादरायण उपनिषदों का।

विवाद का विषय था, क्या यज्ञों का करना आवश्यक है? वेदों का कहना था, हां। उपनिषदों का कहना था, नहीं।

जैमिनी की स्थापना को बादरायण ने अपने सूत्रों (2-7) में दिया है और शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में उसकी व्याख्या की है।

जैमिनी की स्थापना है–

कोई भी आदमी तब तक कोई यज्ञ नहीं करता जब तक उसे इसका विश्वास नहीं होता कि वह शरीर से पृथक है और मरणान्तर वह स्वर्ग जाएगा और जहां जाकर वह अपने द्वारा किए गए यज्ञों का फल भोगेगा। आत्म-ज्ञान के संबंध में जो कथन हैं वे केवल यज्ञ-कर्ता को ज्ञान देते हैं। इसलिए वे यज्ञ करने के आदेशों के मुकाबले में द्वितीय हैं।

संक्षेप में जैमिनी का यही कहना है कि वेदान्त इतना ही सिखाता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है और शरीर के न रहने पर भी रहता है। इतना ज्ञान पर्याप्त नहीं है। आत्मा में स्वर्ग-गमन की आकांक्षा होनी चाहिए। लेकिन जब तक वह यज्ञ न करे तब तक उसका स्वर्ग-गमन संभव ही नहीं है। कर्म-काण्ड यज्ञ करना ही सिखाता है। इसलिए कर्म-काण्ड ही एकमात्र मुक्ति-पथ है और इस दृष्टि से ज्ञान-काण्ड सर्वथा बेकार है। अपने समर्थन में जैमिनी ने ऐसे लोगों के उदाहरण दिए हैं, जिन्होंने (वेदान्ती = ज्ञानमार्गी) होते हुए भी यज्ञ किए हैं। ऐसे दो नाम हैं–जनक और अश्वपति के। जैमिनी का कहना है कि जनक और अश्वपति दोनों आत्मज्ञानी थे। यदि इस ब्रह्म-ज्ञान से ही वह मोक्ष-लाभ कर सकते थे, तो उन्हें यज्ञ करने की आवश्यकता न थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि एक मात्र यज्ञ करने से ही मुक्ति प्राप्त होती है और जैसा वेदांती कहते हैं वैसे

ब्रह्म-ज्ञान या आत्म-ज्ञान से नहीं।'

जैमिनी का साग्रह कथन है कि धर्म-ग्रंथों की घोषणा है कि मुक्ति यज्ञ करने से ही प्राप्त होती है और इसलिए आत्म-ज्ञान स्थिति द्वितीय है। जैमिनी, बादरायण के ज्ञान-काण्ड की स्वतंत्र सत्ता तक स्वीकार नहीं करते। वे अपने समर्थन में दो तर्क देते हैं–

(1) अकेले आत्म-ज्ञान से स्वतंत्र रूप में कोई फल प्राप्त नहीं होता।

(2) वेदों के अनुसार कर्म-काण्ड का दर्जा ज्ञान-काण्ड के ऊपर है।

बादरायण के ज्ञान-काण्ड को लेकर जैमिनी की यही स्थिति है। जैमिनी और उसके कर्म-काण्ड के प्रति बादरायण की क्या स्थिति है? बादरायण ने अपनी स्थिति ब्रह्म-सूत्रों से स्पष्ट की है।

बादरायण ने पहली बात कही है कि जैमिनी जिस आत्मा की चर्चा करता है वह सीमित आत्मा है, आत्मा और ब्रह्म का भेद समझ में आना चाहिए। धर्म-ग्रंथों ने ब्रह्म का अस्तित्व स्वीकार किया है।

जो दूसरी बात बादरायण ने कही है वह यह है कि जहां तक वेदों की बात है, वेद आत्म-ज्ञान तथा यज्ञों दोनों का समर्थन करते हैं।

बादरायण की तीसरी स्थापना है कि जो वेदों में विश्वास करते हैं, उन्हीं के लिए यह अनिवार्य है कि वे यज्ञ करें। लेकिन जो उपनिषदों का अनुसरण करते हैं, उनके लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह यज्ञ करें।

शङ्कराचार्य की व्याख्या है–

जिन्होंने वेदों का पठन किया है और यज्ञों के भी जानकार हैं, उन्हें यज्ञ करने चाहिए। जिन्हें आत्म-ज्ञान है, उनके लिए यज्ञादि कोई कर्म नहीं हैं। ब्रह्म-ज्ञान और कर्म-काण्ड परस्पर बे-मेल हैं।

बादरायण ने चौथी बात यह कही कि यज्ञादि कर्म-काण्ड ब्रह्मज्ञानियों के लिए ही ऐच्छिक हैं। शङ्कराचार्य का भी कथन है–

'कुछ लोगों ने अपनी मर्जी से समस्त कर्म-काण्ड का त्याग कर दिया है। दूसरे कुछ लोग दूसरों के सामने आदर्श उपस्थित करने के लिए कर्म-काण्ड में लगे रहना पसंद कर सकते हैं! दूसरे समस्त कर्म-काण्ड का त्याग कर सकते हैं। ब्रह्म-ज्ञानियों के लिए आत्म-ज्ञानी बने रहने के कारण कर्म-काण्ड में रत रहने की कोई पाबंदी नहीं है।'

उसकी अंतिम स्पष्ट स्थिति है–

ब्रह्म-ज्ञान समस्त कर्म-काण्ड का विरोधी है। ब्रह्म-ज्ञान कर्म-काण्ड से नीचे दर्जे को हो नहीं सकता।

अपने कथन के समर्थन में वे धर्मग्रंथों के उन उद्धरणों को गवाही में पेश करते हैं जो संन्यासाश्रम को चौथा आश्रम स्वीकार करते हैं और संन्यासी को कर्म-काण्ड द्वारा लागू किए गए सभी कर्मों से मुक्त मानते हैं।

ऐसे अनेक ब्रह्मसूत्र उद्धृत किए जा सकते हैं जिनसे दोनों पण्डितों की आपसी

भावना स्पष्ट हो जाती है। जैमिनी की स्थापना है कि वेदांत एक झूठा शास्त्र है, एक जाल है, एक धोखा है, बनावटी है, अनावश्यक है और निस्सार है। इस आक्रमण का बादरायण कैसे मुकाबला करता है? क्या वह भी जैमिनी के कर्मकाण्ड को एक झूठा शास्त्र, एक जाल, एक धोखा, बनावटी, अनावश्यक और निस्सार कहकर उसकी निंदा करता है? नहीं, बादरायण ऐसा साहस नहीं दिखाता है। वह बड़ा क्षमाशील है। उसका कहना है कि जैमिनी का कर्म-काण्ड धर्म-ग्रंथ सम्मत है और उन धर्म ग्रंथों की पवित्रता तथा प्रामाणिकता सर्वमान्य है। उसका कहना इतना ही है कि उसका वेदांत मत भी शास्त्र-सम्मत होने के कारण सत्य है।

इतना ही नहीं है। बादरायण वेदांत शब्द को दो-दो अर्थों में इस्तेमाल करता है। वह इस बात को भी जोर देकर कहता है कि उपनिषद (वेदांत) वैदिक वाङ्मय का अंग है। उसका यह भी कहना है कि उपनिषदों का ज्ञानकाण्ड या वेदांत वेदों के कर्मकाण्ड के विरुद्ध नहीं है। दोनों परस्पर पूरक हैं। बादरायण ने वेदांत-सूत्रों के ढांचे को इसी आधार पर खड़ा किया है।

जिसे अपने वेदांत-सूत्रों का आधार बनाया है, बादरायण की यह स्थापना कि उपनिषद् वेदों का एक अंग हैं और उपनिषद् तथा वेदों में कोई विरोध नहीं है, ठीक नहीं है। यह उपनिषदों की स्थापना और वेदों से जो उनका संबंध है उसके सर्वथा विरुद्ध है। बादरायण का दृष्टिकोण समझना आसान नहीं, लेकिन यह स्पष्ट ही है कि बादरायण की स्थिति एक ऐसे दयनीय विरोधी की स्थिति है जो अपनी लड़ाई का आरंभ अपने विरोधी की स्थापनाओं की स्वीकृति से ही आरंभ करता है। जो वेद-उपनिषदों के विरुद्ध थे, बादरायण ने उन्हीं की प्रामाणिकता को क्यों स्वीकार किया? बादरायण ने सत्य का, सारे सत्य का और केवल सत्य का ही पक्ष क्यों समर्थित नहीं किया? बादरायण ने अपने वेदांत सूत्रों के साथ विश्वासघात किया है? ऐसा क्यों?

देवताओं की आपसी लड़ाई

विश्व के संबंध में हिंदुओं का देव-वाद त्रिमूर्ति के सिद्धांत पर आश्रित है। इसके अनुसार विश्व को तीन स्थितियों में से गुजरना पड़ता है—उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय। यह एक अनंत चक्र है, जो बिना रुके चलता है। इस चक्र की तीनों क्रियाएं तीन भिन्न देवताओं से संपन्न होती हैं। ब्रह्मा से, विष्णु से, महेश से। ब्रह्मा उत्पन्न करते हैं, विष्णु पालन-पोषण करते हैं और महेश पुनरुत्पादन करने के लिए नष्ट कर डालते हैं। ये तीनों देवता मिलकर त्रिमूर्ति कहलाते हैं। त्रिमूर्ति का सिद्धांत यह मानकर चलता है कि तीन देवताओं का पद समान है, वे ऐसे कार्यों के करने में रत हैं जो एक ही समय में संपन्न हो रहे हैं और जिनका एक दूसरे से मुकाबला नहीं है। वे परस्पर मित्र हैं। उनका आपस में विरोध नहीं है।

लेकिन जब हम उस साहित्य का अध्ययन करते हैं, जिसमें इन तीनों देवताओं का चरित चित्रित किया गया है, तो हमें कथनी और करनी में जमीन आसमान का विरोध दिखाई देता है। परस्पर मित्र होने की बात तो दूर रही, तीनों देवता एक दूसरे के कट्टर शत्रु प्रतीत होते हैं। वे आपस में बड़प्पन के लिए और शक्ति-संपन्नता के लिए लड़ रहे हैं। पुराणों से लिए कुछ उदाहरण वस्तुस्थिति को स्पष्ट कर देंगे।

एक समय, ऐसा लगता है कि ब्रह्मा, शिव और विष्णु के मुकाबले में सर्वोपरि देवता रहा है, विश्व को जन्म देनेवाला, प्रथम प्रजापति। वह शिवजी का पूर्वज था और विष्णु का स्वामी था। क्योंकि ब्रह्मा की ही आज्ञा से विष्णु विश्व का संरक्षक तथा पालक बना। ब्रह्मा इतना अधिक शक्तिशाली था कि वह रुद्र और नारायण के झगड़े में तथा कृष्ण और शिव के झगड़े में निर्णायक बना था।

यह बात भी उतनी ही तथ्यपूर्ण है कि आगे चलकर शिव और विष्णु के साथ ब्रह्मा का झगड़ा हुआ और उसके परिणामस्वरूप ब्रह्मा, शिव और विष्णु से कमजोर पड़ गया।

ब्रह्मा और विष्णु के आपसी कलह की दो घटनाएं दी जा सकती हैं।

पहली घटना अवतारों से संबंधित है। अवतारों की कथा ब्रह्मा से आरंभ होती है। उसके बारे में कहा जाता है कि उसने दो अवतार धारण किए—(1) सूअर का, (2) मछली का। विष्णु के अनुयायियों को यह बात पसंद नहीं आई। उन्होंने कहा कि ये अवतार

ब्रह्मा के अवतार नहीं थे, बल्कि विष्णु के अवतार थे। इतना ही नहीं कि उन्होंने विष्णु के बहुत से अवतार पैदा कर दिए।

पुराणों में विष्णु के अवतारों की गिनती का कोई हिसाब-किताब ही नहीं। भिन्न-भिन्न पुराण में विष्णु के अतवतारों की भिन्न-भिन्न संख्या दी गई है। हरिवंश पुराण में विष्णु के पांच अवतार गिनाए गए हैं, नारायण आख्यान में विष्णु के दस अवतार दिए गये हैं, वराह पुराण के अनुसार भी अवतारों की संख्या दस ही है, किंतु उनकी विशेषता है कि उनमें पूर्व के दस अवतारों में से हंस अवतार को निकाल कर उसकी जगह बुद्धावतार को दे दी गई है। वायुपुराण में 12 अवतारों की संख्या है, वाराह पुराण के अवतारों में से कई अवतारों के नाम काट दिए गए हैं और कई नए नाम जोड़ दिए गए हैं। भागवत पुराण में अवतारों की संख्या बढ़कर एक दम बाईस तक पहुंच गई है। उनमें कृष्णावतार भी है, रामावतार भी है और भविष्य में होने वाले कल्की अवतार भी हैं।

दूसरी कहानी में विवाद का विषय हो सकता है कि सर्वप्रथम किसका जन्म हुआ? यह कथा स्कंद पुराण में आई थी। कहानी कहती है कि एक बार विष्णु देवी की छाती पर सिर रखे सो रहे थे। उनकी नाभि में से एक कमल उत्पन्न हुआ और ऊपर उठता हुआ उस कमल का फूल शीघ्र ही बाढ़ की सतह तक पहुंच गया। ब्रह्मा फूल में से बाहर कूद पड़ा। उसे लगा कि वही प्रथम उत्पन्न है, तब भी उसने सोचा कि वह देख ले कि इस विशाल विश्व में कहीं कोई भी उससे भी पहले उत्पन्न तो नहीं है? वह कमल की डण्डी से नीचे की ओर उतरा और वहां विष्णु को सोया देखकर पूछा–"तुम कौन हो?" विष्णु ने कहा, "मैं ही सर्व-प्रथम जन्मा हूं" जब ब्रह्मा ने उसका कथन मानने से इंकार किया तो दोनों की परस्पर लड़ाई हुई। तब महादेव ने उनके बीच में बचाव किया और कहा–"सर्वप्रथम उत्पन्न तो मैं हूं। लेकिन मैं दोनों में से किसी भी एक को सर्वप्रथम मान लेने के लिए तैयार हूं जो या तो मेरे सिर के शिखर तक पहुंच जाए, या मेरे तलुओं का स्पर्श कर ले? ब्रह्मा तुरंत ऊपर चढ़ गया। उसने प्रयास किया और अपने आपको थका लिया, किंतु इसका कोई भी फल नहीं निकला। तब भी क्योंकि वह नहीं चाहता था कि अपने 'प्रथम उत्पन्न' होने के अधिकार से वंचित हो, वह महादेव के पास लौट आया और बोला कि उसने विष्णु के सिर के शिखर का स्पर्श कर लिया है और अपने गवाह के तौर पर उसने एक प्रथम गौ को उपस्थित किया। वहां अहंकार और असत्य का संयोग हो गया था। क्रोध भरे शिवजी ने आज्ञा दी कि धार्मिक विधि-विधानों में ब्रह्मा के लिए कोई जगह न रहे और साथ ही उस गौ का मुंह कलुषित कर दिया जाए। जब विष्णु लौटा तो उसने स्वीकार किया कि वह महादेव के तलुओं तक नहीं पहुंच सका। तब महादेव ने विष्णु को कहा कि तुम ही विश्व में प्रथम उत्पन्न हो। तुम्हें सब देवताओं के ऊपर रहना चाहिए। तब ब्रह्मा ने महादेव का पांचवा सिर काट डाला। इस प्रकार वह अपने अहंकार, अपनी सामर्थ्य और अपने प्रभाव से वंचित हो गया।

इस कथा के अनुसार ब्रह्मा का यह कहना कि वही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ था, झूठा

था। उसे शिव ने झूठ बोलने के लिए ही दण्डित किया था, लेकिन शिव की कृपा से उसे अपने को प्रथम उत्पन्न समझने और कहने का अधिकार मिल गया। ब्रह्मा के मानने वालों के दिल में विष्णु के खिलाफ गुस्सा था कि उन्होंने शिव की मदद से ब्रह्मा को प्रथम उत्पन्न मानने की जो सच्ची बात थी, उससे उन्हें वंचित कर दिया इसलिए उन्होंने एक दूसरी कथा रची जिसके अनुसार ब्रह्मा की नाक में से शिव की उत्पत्ति हुई, एक सूअर के पिल्ले की शक्ल में और धीरे-धीरे वह वराह बन गया—शिव के वराह का अवतार बनने की क्या निंदनीय व्याख्या की गई है।

इसके बाद अपनी स्थिति को कुछ संभालने के लिए ब्रह्मा ने शिव और विष्णु के बीच शत्रुता के बीज बोने आंरभ किए। यह कथा रामायण में दी गई है। ''जब राजा दशरथ मिथिलेश जनक से विदा ले चुकने के बाद अपनी राजधानी लौट रहा था, वह कुछ मनहूस माने जाने वाले पक्षियों की आवाज सुनकर चौकन्ना हो गया। वशिष्ट ऋषि ने उसे यह कहकर सांत्वना दी कि वह जंगल के ऐसे पशुओं से घिरा हुआ है, जिनसे घिरा होना अच्छा शकुन माना जाता है। डरा देने वाली जिस घटना के होने का संकेत मिला था वह परशुराम का आगमन था। उससे पहले एक तूफान आया था जिसने पृथ्वी को हिला दिया था और पेड़-पौधों को नीचे सुला दिया था। ऐसा अंधेरा छा गया था, जिसने सूर्य को ढंक लिया था। उसकी आकृति भयानक थी, अग्नि के समान भड़कीली। उसके कंधे पर एक परुशा (कुल्हाड़ा) था और था एक धनुष। स्वागत-सत्कार हो चुकने के अनन्तर वह राम की ओर बढ़ा और बोला—'तुमने राजा जनक के धनुज्ञ को तोड़ा डाला है। मैंने तुम्हारी यह बहादुरी सुनी है। मैं तुम्हारे लिए यह एक और धनुष लाया हूं। यदि तुमने इसे झुका दिया और इसकी डोरी पर यह तीर चढ़ा दिया तो मैं तुम्हें द्वंद्व के लिए ललकारूंगा।' इस भाषण को सुनकर राम का पिता दशरथ चिंतित हो उठा। उसने परशुराम के प्रति नम्रता का रुख अपनाया तब तक परशुराम ने दुबारा राम को संबोधित किया—'तुमने जिस धनुष को तोड़ा है वह शिवजी का धनुष था, अब जो धनुष स्वयं लाया हूं वह विष्णु का धनुष है। ये दोनों धनुष विश्वकर्मा द्वारा निर्मित थे। इन दोनों में से एक देवताओं ने महादेव (शिव) को दिया था और दूसरा विष्णु को।'

''तब सभी देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि वह बताएं कि महादेव और विष्णु की कितनी शक्ति है? तीनों में जो सबसे दक्ष ब्रह्मा था उसने देवताओं का संकेत समझ शिव और विष्णु में शत्रुता पैदा कर दी। वैमनस्य की इस अवस्था में महादेव और विष्णु में भयानक लड़ाई हुई। दोनों देवता एक दूसरे को हराना चाहते थे। उस समय भयानक सामर्थ्यवान शिव-धनुष झुका था और त्रिनेत्र महादेव को मंत्र-बल से बंदी बना लिया गया था। एकत्र हुए देवताओं ने, ऋषियों ने, चारणों ने जब मिलकर दोनों देवताओं की स्तुति की तो वे शांत हुए। यह देख कि विष्णु के बल ने शिव के धनुष को झुका दिया था, देवताओं ने विष्णु को अधिक शक्तिशाली स्वीकार कर लिया।

ब्रह्मा ने जैसे-तैसे महादेव से बदला चुका लिया।

इस व्यूह-रचना से भी ब्रह्मा विष्णु के मुकाबले में अपनी स्थिति को सुरक्षित नही रख सका। ब्रह्मा की स्थिति में विष्णु के मुकाबले में इतना पतन हुआ कि जो विष्णु किसी समय ब्रह्मा की आज्ञा का पालन करने वाला था, वह ब्रह्मा का जनक बन गया।

शिव के मुकाबले में अपने को प्रतिष्ठित रखने में भी ब्रह्मा को पराजय का मुंह देखना पड़ा। शिव ब्रह्मा के जनक हो गए। ब्रह्मा मुक्तिदाता न रहा। जो देवता मुक्ति प्रदान कर सकता था—वह शिव था। ब्रह्मा की प्रतिष्ठा इतनी अधिक घट गई कि वह शिव और उसके लिंग की पूजा करने वाला एक सामान्य पुजारी बनकर रह गया। वह एक तरह का शिव का चाकर बनकर रह गया, शिव का रथ हांकने वाला।

बाद में ब्रह्मा पर यह आरोप लगा कि उसने अपनी कन्या के साथ ही बलात्कार किया और वह थोड़ी मात्रा में भी पूज्य न रहा। भागवत पुराण में यह आरोप इन शब्दों में लगाया गया है—

"हे क्षत्रिय! हमने सुना है कि स्वयंभू (ब्रह्मा) अपनी दुबली, पतली आकर्षक वाक् नाम की कन्या पर आसक्त हो गया। मारीचि के नेतृत्व में उसके पुत्रों तथा मुनियों ने अपने पिता को ऐसी बदमाशी करने पर तुला देखकर उसे प्रेम के साथ टोका—'यह ऐसा कुकर्म है जो तुमसे पहले भी किसी ने नहीं किया है और तुम्हारे बाद भी कोई नहीं दोहराएंगे। यह स्वयं पिता होकर अपनी ही कन्या पर बलात्कार करना प्रतिष्ठित आदमियों को शोभा नहीं देता....वह विष्णु यशस्वी है जिसने अपने तेज से सारे विश्व को प्रकाशित कर दिया है। वह धर्म को धारण किए है।' अपनी संतान प्रजापतियों को इस प्रकार अपनी आलोचना करते देखकर प्रजापतियों का स्वामी (ब्रह्मा) लज्जित हुआ और उसने अपना शरीर त्याग कर दिया।....यह भयानक शरीर ही अब धुंध के अंधेरे के रूप में विद्यमान है।"

इतनी नीचता लिए हुए ब्रह्मा की बदनामी करने वाला यह आक्रमण संपूर्ण रूप से उसे खत्म करने के लिए ही किया गया। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि ब्रह्मा की पूजा एक प्रकार से लुप्त ही हो गई है और अब नाम-मात्र के लिए उसकी गिनती त्रिमूर्ति के अंतर्गत की जाती है।

ब्रह्मा के बहिर्गमन के अनन्तर शेष रह गए शिव और विष्णु। दोनों में कभी भी शांति नहीं रही। दोनों के बीच विद्यमान ईर्ष्या और विरोधी-भाव बना ही है।

शिव और विष्णु के पुजारी ब्राह्मणों ने शिव और विष्णु के पक्ष तथा विरोध में जो प्रचार कार्य जारी रखा, उससे पुराण भरे पड़े हैं। यह पक्ष और विपक्ष में किया गया प्रचार कार्य कितना परस्पर मुकाबले का था, इन कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा।

विष्णु का वैदिक देवता सूर्य से संबंध है। शिव के पुजारी शिव का संबंध अग्नि से बनाए हैं। उद्देश्य यही था कि यदि विष्णु का कोई वैदिक मूल है तो शिव का भी कोई वैदिक मूल होना चाहिए। श्रेष्ठ उत्पत्ति के संबंध में एक दूसरे से घटिया नहीं होना चाहिए।

शिव को विष्णु से बढ़कर होना चाहिए और विष्णु को भी शिव से घटकर नहीं रहना चाहिए। विष्णु के हजार नाम हैं तो शिव के भी हजार नाम होने चाहिए और वे पद्मपुराण में दिए हैं।

विष्णु के अपने चिह्न हैं। उनकी संख्या चार है। शिव के भी चार चिह्न होने चाहिए और वे हैं (1) बहने वाली गङ्गा (2) चन्द्रमा, (3) शेष-नाग तथा (4) जटा। अवतारों को लेकर ही शिव विष्णु के मुकाबले पर नहीं उतरे। इसका यह मतलब नहीं कि इस विषय में मुकाबले पर उतरने की इच्छा अविद्यमान थी, बल्कि दार्शनिक दृष्टि से शिव के अवतार धारण करने का समर्थन नहीं किया जा सकता था। उनका दार्शनिक दृष्टिकोण इसमें एक बड़ी बाधा थी।

शिव को यशस्वी सिद्ध करने वाले कार्यों के प्रचार-कार्य में कुछ भी कमी नहीं रही। उसके मुकाबले में विष्णु की यश-कीर्ति का प्रचार करने वाले वैष्णव-जन भी पीछे नहीं रहे। इस संबंध में एक कथा तो पवित्र गङ्गा नदी के उद्भव की ही सुनाई जाती है। शैव लोगों का कहना है कि गङ्गा शिवजी की जटाओं से निकली है। वैष्णव लोग इसे स्वीकार नहीं कर सकते। उन्होंने एक दूसरे कथानक की रचना की है। वैष्णव जनों के अनुसार पवित्र और दूसरों को पवित्र करने वाली गङ्गा नदी, प्रथम विष्णु के धाम वैकुण्ठ से निकली और विष्णु के पैरों से निकलकर कैलास पर्वत पर उतरती हुई शिवजी की जटाओं में आ गिरी। इस कथानक की दो व्यंजनाएं हैं। पहली तो यही कि शिव जी गंङ्गा के मूल स्रोत नहीं हैं। दूसरी यही कि विष्णु शिव के ऊपर हैं और उनके पांव का पानी शिव के सिर पर गिरता है।

दूसरी कथा समुद्र-मंथन से संबंधित है जिसमें देवताओं और असुरों ने मिलकर समुद्र-मंथन किया था। उन्होंने मंदार पर्वत का उपयोग समुद्र-मंथन के लिए डण्डे की तरह किया। शेष नाग (सर्प) का उपयोग रस्सी की तरह किया गया। पृथ्वी कांपने लगी और लोग डरे कि पृथ्वी का अंत आ पहुंचा है। विष्णु ने कछुए का अवतार धारण किया और समुद्र-मंथन के समय पृथ्वी को अपनी पीठ पर संभाले रखा। यह कथा विष्णु का गौरव-गान करने के लिए रची गई है। शैवों ने इस कथा में एक परिशिष्ट जोड़ा है। इस परिशिष्ट के अनुसार समुद्र-मंथन के परिणाम-स्वरूप समुद्र में से चौदह रत्न निकले। इन चौदह रत्नों में एक था कालकूट विष। उस कालकूट विष ने पृथ्वी को नष्ट कर दिया होता, यदि कोई-न-कोई उसका पान करने के लिए तैयार न हुआ होता। शिव ही इस काल-कूट विष का पान करने के लिए अग्रसर हुए। इस कथा की व्यंजना यही है कि विष्णु कितना मूर्ख था कि उसने परस्पर विरोधी देवताओं और असुरों से समुद्र मंथन कराकर उसमें से काल-कूट विष की उत्पत्ति को जन्म दिया। और यह शिव की कितनी महानता थी कि उन्होंने काल-कूट विष का पान कर लिया, अन्यथा यह पृथ्वी नष्ट हो जाती। विष्णु की यह कितनी बड़ी मूर्खता थी।

तीसरी कथा इस बात का निर्देश करने के लिए है कि विष्णु तो बड़ा ही मूर्ख है और

यह शिवजी ही हैं जिन्होंने अपनी अधिक बुद्धिमत्ता से विष्णु का संरक्षण किया। यह अक्रूर असुर की कहानी है। अक्रूर एक राक्षस था, जिसकी शक्ल सूअर की थी। वह निरंतर वेदपाठ करता था और बड़े भक्ति-भाव से रहता था। विष्णु उस पर बहुत प्रसन्न हो गए और उसे मनचाहा वरदान मांगने के लिए कहा। अक्रूर असुर ने कहा, मुझे यही वरदान दीजिए कि तीनों लोकों का कोई भी प्राणी मेरी जान न ले सके। विष्णु ने उसे यही वरदान दे दिया। इसके परिणामस्वरूप वह असुर इतना अवज्ञाकारी हो गया और देवताओं पर इतना अत्याचार करने लगा कि देवताओं को छिप जाना पड़ा। असुर ने तीनों लोकों पर अधिकार कर लिया। उस समय विष्णु बहुत घबरा गए और वह काली नदी के तट पर बहुत चिंतित बैठे थे। अब उन्हें भयानक क्रोध आया। तब इससे पहले कभी न दिखाई दी एक ज्योति विष्णु की आंख से प्रकट हुई हैं। यह स्वयं महादेव थे और उस ज्योति ने उस असुर का काम तमाम कर दिया। विष्णु की चिंता मिटी।

इसी के मुकाबले पर यह एक ऐसी कथा गढ़ गई है। उससे यह प्रमाणित होता है कि शिव एक मूर्ख था और विष्णु ने उसकी मूर्खता से उसका संरक्षण किया। भस्मासुर ने शिव को प्रसन्न कर लेने के अनन्तर वरदान मांगा। वरदान यही था कि कोई भी आदमी जिसके सिर पर भस्मासुर अपना हाथ रख देगा, जलकर राख हो जाएगा। शिव ने वरदान दे दिया। भस्मासुर ने अपने इस वरदान का प्रयोग शिवाजी के विरुद्ध ही करना चाहा। शिव भयभीत हो उठे और डर के मारे विष्णु के पास पहुंचे कि वे शिवजी को बचाएं। विष्णु ने सहायता देने का वचन दिया और तुरंत एक सुंदर स्त्री का रूप बना भस्मासुर के पास पहुंचे। भस्मासुर उस पर आसक्त हो गया। विष्णु ने भस्मासुर से कहा कि उसे सुंदर स्त्री स्वरूप विष्णु का हर कहना मानना होगा। भस्मासुर ने स्वीकार किया। तब विष्णु ने उसे कहा कि तुम अपने हाथों को अपने सिर पर रखो। भस्मासुर ने ऐसा ही किया। उसका परिणाम यही हुआ कि भस्मासुर भस्म हो गया। विष्णु ने शिव की मूर्खता से उसका संरक्षण किया।

''क्या कोई ऐसा दूसरा कारण है, जिससे महादेव को देवताओं का देवता समझा जाता है? हमने यह कभी नहीं सुना कि महादेव को छोड़कर किसी भी दूसरे देव के पुरुष-लिंग की पूजा देव-गण करते हों। यदि तुमने ही सुना हो तो बताओ कि महादेव के अतिरिक्त वह कौन-सा देवता है जिसके पुरुष-लिंग की पूजा वर्तमान में देवतागण कर रहे हों, या पहले करते रहे हों? तुम जिसके पुरुष-लिंग की पूजा ब्रह्मा और विष्णु और इन्द्र भी करता है देवादिदेव हो। क्योंकि बच्चे न तो ब्रह्मा के चिह्न कमल को धारण किए रहते हैं, न विष्णु के चिह्न चक्र को धारण किए रहते हैं, न इन्द्र के चिह्न वज्र को धारण किए रहते हैं, बल्कि पुरुष तथा स्त्रियों की जननेन्द्रियों को ही धारण किए रहते हैं और जितने भी पुरुष हैं वे महादेव के लिंग से चिह्नित हैं। जो कोई कहता हो कि महादेव के अतिरिक्त सृष्टि की उत्पत्ति का कोई दूसरा कारण है या तीनों लोकों में कोई स्त्री है जो देवी के चिह्न से चिह्नित नहीं है, उस मूर्ख को निकाल बाहर करो। जो कुछ भी पुरुषत्व लिए हो, उसे

ईश्वर (महादेव) जानो और जो कुछ भी स्त्रीत्व लिए हो उसे उमा जानो । यह जितनी भी चराचर सृष्टि है इसके मूल में ये ही दो हैं—पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व।''

यवन दार्शनिक जैनो फेन का मत है कि एक से अधिक देवताओं का होना या बहुदेववाद एक असंभव बात है। उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यह मत परस्पर विरोधी मत है। एकेश्वरवाद ही एकमात्र सच्चा सिद्धांत है। केवल एक दार्शनिक की तरह विचार करने से जैनो फेन का मत ठीक हो सकता है। लेकिन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अनेकेश्वरवाद तथा एकेश्वरवाद या अनेक देववाद और एक देववाद दोनों संभव हैं। जहां समाज का एक ही वर्ग हो, वहां एकदेववाद स्वाभाविक है। लेकिन जहां समाज की रचना नाना प्रकार के वर्गों से हुई है वहां अनेक देववाद ही स्वाभाविक तथा अनिवार्य हैं। क्योंकि प्रत्येक प्राचीन समाज के अंतर्गत न केवल उस वर्ग के आदमियों की गिनती होती थी, बल्कि साथ-साथ वर्ग से संबंधित देवताओं की भी गिनती होती थी, इसलिए उन समाजों के वे वर्ग केवल एक ही शर्त पर एक दूसरे से घुल-मिल सकते थे कि सभी वर्ग सभी वर्गों के देवताओं को स्वीकार करें, मान्यता दें। इस तरह से अनेक देववाद का विकास हुआ।

इसके फलस्वरूप हिंदुओं में बहुत से देवताओं का होना समझ में आता है क्योंकि हिंदू समाज ऐसी बहुत-सी नस्लों, ऐसे बहुत से वर्गों का समूह है, जिन सभी के अपने—देवता रहे हैं।

जो बात समझ में नहीं आती वह यह है कि यह कितने बड़े आश्चर्य की बात है कि हिंदू देवता आपस में इतने निम्न स्तर पर संघर्ष करते रहे हैं कि वैसी उठा-पटक सामान्यतया मरणशील मानवों के लिए भी लज्जाजनक है।

ऐसा क्यों हुआ है, यह सचमुच चिंतनीय विषय है।

देवताओं का उत्थान और पतन

हिंदुओं पर मूर्तिपूजक होने का आरोप लगाया जाता है लेकिन मूर्तिपूजक होने में कौन-सी बुराई है? जैसे किसी देवता का फोटो रखना है वैसा ही है किसी देवता की मूर्ति गढ़ना। यदि फोटोग्राफ रखना निर्दोष है तो मूर्ति रखना भी उतना ही निर्दोष है। हिंदू मूर्ति-पूजा का जो विरोध किया जाता है वह यह कहकर कि यह केवल फोटोग्राफी नहीं है, यह केवल मूर्तियों का निर्माण नहीं है यह उससे कहीं अधिक है। हिंदू-मूर्ति एक जीवित प्राणी है, उसे एक जीवित प्राणी के सभी क्रिया-कलापों से समन्वित माना जाता है। प्राणप्रतिष्ठा संस्कार द्वारा हिंदू-मूर्ति को जीवित प्राणी बना दिया जाता है। जहां तक मूर्ति का प्रश्न है, बौद्ध भी मूर्तिपूजक ही होते हैं, क्योंकि वे भी बुद्ध की मूर्ति की पूजा करते हैं। लेकिन उनकी मूर्ति-पूजा मात्र एक मूर्ति की पूजा होती है, एक शक्ल की पूजा। इस पूजा में कहीं कोई 'आत्मा' नहीं होती। ब्राह्मणों ने हिंदू-देवताओं को प्राणवान क्यों बनाया? यह एक रोचक जिज्ञासा है। किंतु यह प्रश्न इस परिच्छेद की सीमा से बाहर की जिज्ञासा होगी।

हिंदुओं के विरुद्ध जो दूसरा आरोप लगाया जाता है, वह यही है कि वे बहुदेववादी हैं, वे अनेक देवताओं की पूजा करते हैं। अब अकेले हिंदू ही नहीं हैं जो अनेक देववादी हों, दूसरी जातियां भी अनेक देववादी रही हैं। केवल दो ही जातियों को लें। रोमन और यवन लोग भी अनेक देववांदी रहे हैं। वे भी बहुत से देव की पूजा करते रहे हैं। इसलिए इस आरोप में भी कोई विशेष दम नहीं है।

ऐसा लगता है कि हिंदुओं के विरुद्ध जो असली आरोप लगाया जाना चाहिए उसकी ओर लोगों का ध्यान नहीं गया है। आरोप यह है कि हिंदुओं की अपने देवताओं के प्रति दृढ़ आस्था या भक्ति नहीं है। किसी एक देवता के प्रति वफादारी, आसक्ति या विश्वास जैसी कोई चीज नहीं है। हिंदू-देवताओं के इतिहास में यह एक बहुत-ही मामूली-सी बात मालूम देती है कि कुछ समय तक किन्हीं देवताओं की पूजा होती रही है, बाद में उनकी पूजा बंद हो गई है और स्वयं वे देवता भी कूड़े के ढेरी पर फेंक दिए गए हैं। सर्वथा नए देवताओं का चयन होता है। यह चक्र चलता रहता है। इस प्रकार हिंदू-देवताओं का उत्थान और पतन होता ही रहता है—संसार की किसी भी दूसरी जाति का इतिहास इस प्रकार के अद्‌भुत घटना-क्रम से अपरिचित है।

यह कथन कि हिंदू अपने देवताओं के प्रति ऐसे छिछोरेपन का व्यवहार करते हैं, आसानी से मान्य नहीं किया जा सकता। इसको लेकर कुछ-न-कुछ प्रमाण दिया जाना चाहिए। भाग्य से ऐसे प्रमाणों की कमी नहीं है। इस समय हिंदू चार देवताओं की पूजा करते हैं, (1) शिव (2) विष्णु (3) राम (4) कृष्ण। प्रश्न है कि क्या ये ही वे चार देवता हैं जिनकी पूजा हिंदू आरंभ से करते चले आ रहे हैं?

हिंदुओं के देवागार में सर्वाधिक देवताओं का आगमन हुआ है। गिनती के हिसाब से कोई भी दूसरा धर्म हिंदुओं का मुकाबला नहीं कर सकता। ऋग्वेद के समय ये बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान थे। दो स्थानों पर ऋग्वेद ने इनकी संख्या तीन हजार तीन सौ नौ करके गिनाई है। हम अब नहीं जान सकते कि किन अज्ञात कारणों से वह संख्या घटकर केवल तैंतीस रह गई। यह काफी कम हुई। लेकिन उस संख्या को लेकर भी हिंदुओं का देवागार सबसे बड़ा है।

सत्पथ ब्राह्मण ने इन तैंतीस देवताओं की गिनती इस प्रकार पूरी की है (1) वसु 8, (2) रुद्र 11, (3) आदित्य 12, (4) द्यौ आकाश 1, (5) पृथ्वी 1।

संख्या के प्रश्न से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उनके आपसी महत्त्व का है, पद का है, प्रतिष्ठा का है। ऋग्वेद के अनुसार ऐसा लगता है कि पहले कोई बड़ा-छोटा नहीं था, लेकिन बाद में पद-प्रतिष्ठा के हिसाब से देवताओं के दो विभाग हो गए। वेदों में अनेक ऐसी ऋचाएं हैं जिनसे देवताओं का सर्वोपरित्व लक्षित होता है। किसी ऋचा में अग्नि को सर्वोपरि स्थान दिया गया है, किसी में इन्द्र को अग्नि के ऊपर बिठा दिया गया है, किसी में सोम को अग्नि और इन्द्र के भी ऊपर बिठा दिया गया है। आगे चलकर सोम भी उपेक्षित हो गया। अब वरुण सर्वोपरि है।

जो साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध है उनसे लगता है कि तैंतीस देवताओं में अग्नि, इन्द्र, सोम और वरुण प्रमुख देवता हो गए थे। इसका मतलब यह नहीं है कि दूसरे देवता देवता नहीं रहे। ऐसा नहीं, ये चारों देवता दूसरे देवताओं में प्रमुख मान लिए गए। आगे चलकर फिर परिवर्तन हुआ और देवताओं की पद-प्रतिष्ठा में फर्क आया। सोम और वरुण की गिनती प्रमुख देवताओं में नहीं की जाने लगी। अग्नि और इन्द्र वैसे ही प्रतिष्ठित बने रहे। इसके बीच एक नए देवता का उदय हो गया। उसका नाम सूर्य है। परिणाम यह हुआ कि अग्नि, इन्द्र, सोम और वरुण की बजाय अग्नि, इन्द्र, सोम और सूर्य प्रमुख देवता बन गए।

ये तीनों देवता कब तक प्रमुख देवता बने रहे, कहना कठिन है। लेकिन आगे चलकर इनमें भी परिवर्तन हुआ, यह असंदिग्ध है।

चूल निद्देस नामक एक ग्रंथ है। वह बौद्ध त्रिपिटक का एक अंश है। उसका निश्चित समय न कह सकने पर भी हम इतना जानते हैं कि प्रथम शताब्दी में राजा वटट्गामणई के समय वह श्रीलंका में लिपिबद्ध हो गया था। चूल निद्देस के समय में जो धार्मिक-संप्रदाय उस समय भारत में विद्यमान थे, उनकी सूची दी गई है।

इस सूची में बाई संप्रदायों के नाम और उनके द्वारा पूजे जा रहे देवताओं के नाम दिए गए हैं, जिनमें दो नाम वासुदेव और बलदेव के हैं।

सत्पथ ब्राह्मण की स्थिति के साथ जब हम चूल निद्देस में दी गई सूची की तुलना करते हैं, तो ये कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं–

(1) अग्नि, सूर्य और इन्द्र की पूजा चूल निद्देस के समय तक चालू थी।

(2) यद्यपि अग्नि, सूर्य और इन्द्र की पूजा उस समय भी चालू थी, लेकिन अब वह पहले जैसी शान न थी। कुछ दूसरे संप्रदाय और देवताओं ने भी जन्म ग्रहण कर लिया था।

(3) इन नए संप्रदायों में दो संप्रदाय ऐसे हैं जो आगे चलकर बहुत प्रतिष्ठित हो गए, एक वासुदेव (कृष्ण) की पूजा का संप्रदाय और दूसरी ब्रह्म की पूजा।

(4) विष्णु, शिव और राम की पूजा का संप्रदाय अभी अस्तित्व में नहीं आया था। इस समय जब हम चूल निद्देस की स्थिति के साथ वर्तमान स्थिति की तुलना करते हैं तो हम क्या पाते हैं? हम तीन बातें निश्चित रूप से जानते हैं–

(1) अग्नि, इन्द्र, ब्रह्म, सूर्य की पूजा के संप्रदाय लुप्त हो गए हैं।

(2) कृष्ण की पूजा का संप्रदाय अपनी स्थिति सुरक्षित रखे है।

(3) विष्णु-शिव और राम की पूजा के संप्रदाय नए **संप्रदाय** हैं, जो चूल निद्देस के समय के बाद अस्तित्व में आए।

इस स्थिति और परिस्थिति में तीन बातें विचारणीय हैं–

(1) अग्नि, इन्द्र, ब्रह्म और सूर्य की पूजा के **संप्रदाय** क्यों लुप्त हो गए? इन देवताओं की पूजा क्यों बंद हो गई?

(2) कृष्ण, राम, शिव और विष्णु की पूजा के संप्रदायों को किन परिस्थितियों ने जन्म दिया?

(3) कृष्ण, राम, शिव और विष्णु के आपसी संबंध कैसे, क्या हैं?

हमारे पास पहले प्रश्न का उत्तर नहीं। ब्राह्मणी साहित्य हमें इस विषय में कोई संकेत नहीं देता कि ब्राह्मणों ने अग्नि, इन्द्र, सूर्य और ब्रह्म की पूजा को क्यों त्याग दिया? ब्रह्म की पूजा क्यों बंद हो गई, इसकी ओर कुछ इशारा किया जा सकता है। इसका आधार ब्राह्मणी साहित्य है जिसमें ब्रह्मा पर अपनी ही पुत्री के साथ बलात्कार करने का आरोप लगाया गया है। ब्रह्मा ने ऐसा करके अपने-आपको पूज्य नहीं बना रहने दिया। यह आरोप चाहे सही, चाहे गलत हो, दो कारणों से इसे महत्त्व नहीं दिया जा सकता। पहला तो यह कि इस युग में ऐसा करना कोई बड़ी असाधारण बात नहीं थी। दूसरे ब्रह्मा की अपेक्षा कृष्ण अधिक अनैतिक अपराधों का अपराधी है। तो भी उसकी पूजा जारी है।

जहां तक ब्रह्मा की बात है, उसकी पूजा क्यों त्याज्य हो गई, इस विषय में कुछ सोचा जा सकता है, लेकिन बाकी तीन जने भी क्यों पूज्य नहीं रहे, इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अग्नि, इन्द्र, सूर्य, तथा ब्रह्मा का एकदम अदृश्य हो जाना एक पहेली

है। यह स्थान इस पहेली की बुझौवल करने का नहीं। इतना ही कहना पर्याप्त है कि हिन्दुओं के देवता देवता नहीं रहे—कम भयानक बात है?

दूसरे प्रश्न का समाधान भी अप्रकट ही है। कृष्ण, विष्णु, शिव और राम के संबंध में ब्राह्मणी साहित्य अपार है। किन्तु ब्राह्मणी साहित्य में इस विषय में कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं कि ये नये देवता क्यों उभरे? इन देवताओं को क्यों मंच पर लाया गया, यह एक पहेली है। यह पहेली और भी अधिक रहस्यमय हो जाती है, जब हमको यह सुनिश्चित जानकारी मिलती है कि इन देवताओं में से कुछ वैदिक देवता न थे।

हम शिव को ही लें।

भागवत पुराण और महाभारत में भी शिव के गणों द्वारा राजा दक्ष के यज्ञ को विध्वंस करने की जो कथा दी गई है, वह भी इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि शिव वैदिक-विरोधी देवता थे।

अब हम कृष्ण को लें।

चार व्यक्ति हैं, जिनके नाम कृष्ण हैं। एक कृष्ण है जो सत्यवती का पुत्र है और धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर का पिता है। दूसरा कृष्ण सुभद्रा का भाई और अर्जुन का मित्र है। तीसरा कृष्ण वासुदेव और देवकी का पुत्र था और मथुरा का रहने वाला था। चौथा कृष्ण वह था जिसका नन्द और यशोदा ने गोकुल में पालन-पोषण किया था। यही वह कृष्ण था जिसने शिशुपाल का वध किया था। यदि कृष्ण भक्त सम्प्रदाय का कृष्ण यही देवता है जो देवकी का पुत्र था, तो इसमें कोई सन्देह नहीं, कि वह भी वैदिक-विरोधी था। छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार वह घोर अंगीरस का शिष्य था। घोर अंगीरस वेद-विरोधी था। वह नहीं मानता था कि वैदिक यज्ञ करने से आदमी मुक्त हो जा सकता है।

शिव वैदिक-विरोधी था। कृष्ण वैदिक-विरोधी था। किन्तु विष्णु एक वैदिक देवता है। तो भी वह शिव के बहुत बाद में देवता बना। यह समझना कठिन है कि विष्णु की इतनी उपेक्षा क्यों हुई? इसी प्रकार राम यद्यपि वैदिक-विरोधी नहीं है तो भी वेदों को राम का पता ही नहीं है। इस देश के इतिहास में इतनी देर कर के राम को पूज्य बनाने की क्या आवश्यकता थी?

अब हम तीसरा प्रश्न ले लें। पुराने देवताओं के साथ यह नये देवता किस प्रकार संबंधित थे? देवी थी जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव की भी जननी थी। उस देवी की इच्छा हुई कि वह अपने दोनों हाथों को आपस में रगड़े। हाथों के रगड़ने से एक छाला उभर आया। इस छाले में से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्मा के उत्पन्न होने पर देवी ने उसे कहा—'तू शादी कर ले। ब्रह्मा ने प्रस्ताव अस्वीकार किया। कहा—तू मेरी मां है। देवी गुस्सा हो गयी और उसने ब्रह्मा को जलाकर राख की ढेरी बना दिया।

देवी ने दुबारा अपने हाथ रगड़े। एक और छाला उभर आया। इस छाले में से दूसरा पुत्र बाहर आया। इसका नाम विष्णु था। देवी ने उससे भी वही प्रस्ताव किया और उसने अस्वीकार करने पर उसे भी जलाकर राख की ढेरी बना दिया। तीसरी बार हाथों के रगड़ने

पर एक तीसरा छाला उत्पन्न हुआ। इस तीसरे छाले में से तीसरी सन्तान उत्पन्न हुई। उसका नाम शिव था। देवी ने उससे भी शादी करने की बात की। शिव ने कहा, मैं विवाह कर लूंगा। शर्त एक ही है कि वह दूसरा शरीर धारण कर ले। देवी सहमत हो गई। उसी समय शिव की नजर राख की उन ढेरियों पर पड़ी। देवी बोली, "ये राख की ढेरियां तुम्हारे दो भाइयों की हैं। मैंने उन्हें जला दिया क्योंकि वे मुझसे शादी करने के लिए सहमत न हुए।" शिव ने कहा "मैं अकेला कैसे शादी कर सकता हूं। तुम दूसरी दो औरतों को जन्म दो ताकि हम तीनों शादी कर सकें।" जैसा कहा गया था, देवी ने वैसा ही किया। तब तीनों देवताओं की उस देवी और उसके द्वारा उत्पन्न की गई देवियों से शादी हो गई।

इस कथा में ध्यान देने लायक दो बातें हैं। पहली यह कि पाप करने में भी शिव अकेले नहीं रहना चाहते थे जिससे उनका दर्जा न घट सके। दूसरी बात यह कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव की स्थिति गड़बड़ा गयी थी। वे देवी के गुलाम बन गए थे।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव के उत्थान और पतन की चर्चा कर चुकने के बाद दो नये अवतारों—कृष्ण और राम के उठने और गिरने के चर्चा करें।

यह स्पष्ट ही है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव की जन-कथाओं के मुकाबले में कृष्ण की जन-कथा में कुछ कृत्रिमता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव देवत्व लेकर पैदा हुए थे। कृष्ण एक आदमी था, जिसे देवत्व के पद पर आसीन किया गया था। संभवतः उसे देवत्व की गद्दी पर आसीन करने के लिए ही यह कथा गढ़ी गयी कि वह विष्णु का अवतार था। लेकिन तब भी उसका देवत्व अपूर्ण ही रहा, क्योंकि उसे विष्णु का आंशिक अवतार ही माना गया। हो सकता है कि यह इसी लिए हुआ हो कि वह गोपियों के साथ छेड़खानी करता था। यदि उसकी गिनती संपूर्ण अवतारों में की जाती तो संभवतः उसका गोपियों के साथ छेड़खानी करना अक्षम्य अपराध माना जाता।

इस प्रकार के सामान्य आरंभ के बावजूद कृष्ण सभी देवताओं के भी ऊपर बिठा दिये गए थे। वे कितने ऊंचे पद पर आसीन थे, इसका परिचय भगवद्गीता के दसवें तथा चौदहवें अध्यायों से मिल जाता है।

जहां तक गीता की बात है, कृष्ण से बढ़कर कोई दूसरा देवता नहीं। वह ही अल्ला हो अकबर है, वह ही सभी देवताओं के ऊपर है।

अब हम महाभारत के पन्ने उलटें। वहां हम क्या देखते हैं? हम देखते हैं कि कृष्ण की स्थिति बदली हुई है। वहां उसका उत्थान भी है और निचले दर्जे पर ढकेला जाना भी है। पहले तो हम देखते हैं कि कृष्ण को शिव के ऊपर बिठाया है। इतना ही नहीं, शिव से यह मनवाया गया है कि कृष्ण उससे बड़े हैं। इसके साथ ही हम देखते हैं कि कृष्ण को शिव ने निचले दर्जे पर आसीन किया है। कृष्ण ने शिव की महानता को स्वीकार किया है।

कृष्ण को शिव के भी ऊपर प्रतिष्ठित करने के प्रयास के साक्षी स्वरूप महाभारत के अनुशासन पर्व का एक यह उद्धरण ही काफी है—

"वह सभी देवताओं के उपर हैं, देवादिदेव, शत्रुओं को नष्ट करने वाला।"

अब हम देखें कि कृष्ण को इतना उपर चढ़ाकर फिर कैसे नीचे गिराया गया है। महाभारत ऐसी साक्षियों से भरा पड़ा है।

एक कथा है कि अर्जुन ने अगले दिन जयद्रथ का वध करने की शपथ ग्रहण की थी। तब कृष्ण और अर्जुन दोनों मिलकर शिव के पास गए और उसकी बहुत खुशामद की। शिव से उन्हें पाशुपत अस्त्र प्राप्त हो गया था, जिससे अर्जुन ने जयद्रथ को मार डाला था।

महाभारत के ही अनुशासन पर्व में युधिष्ठिर और भीष्म के बीच का वार्तालाप दिया गया है। यह वार्तालाप कृष्ण की उपस्थिति में होता है। वार्तालाप की समाप्ति होते ही भीष्म कृष्ण को संबोधित करते हैं, और महादेव (शिव) की स्तुति करने को कहते हैं, और देवादिदेव ऐसा करते हैं। वे कहते हैं—

"शिव की महानता शब्दातीत है।"

शिवजी को भी इसका भान है कि कृष्ण ने उनको अपने से बड़ा मान लिया है। वे अश्वत्थामा को कहते हैं—

"कृष्ण ने मेरी यथायोग्य पूजा की है।"

जो कृष्ण शिव के ऊपर आसीन थे, सभी देवताओं के सर्वोपरि थे, वह कृष्ण घटकर केवल शिव के एक अनुयायी बन गए हैं, छोटे-मोटे उपकारों से उपकृत होने वाले।

कृष्ण की अपनी स्वीकृति है—

"आठवें दिन उस उपमन्यु नाम के ब्राह्मण ने मुझे शास्त्रोक्त विधि से दीक्षित किया। मैंने मेखला पहनी और छाल के वस्त्र धारण किए।"

क्या किसी भी देवता का इससे अधिक उत्थान और इससे अधिक पतन हो सकता है? शिव की तुलना में जो कृष्ण परमेश्वर था, जबकि शिव तो केवल ईश्वर ही था, अब ईश्वर भी नहीं रहा। वह शिव का अनुयायी बन जाता है, और उपमन्यु जैसे एक सामान्य ब्राह्मण से शैव शास्त्रों की शिक्षा ग्रहण करता है।

राम के देवत्व की जन-कथा कृष्ण की जन-कथा से भी अधिक बनावटी है। राम को स्वयं इस बात का पता नहीं था कि वह अवतार है। रावण की पराजय और मरण के अनन्तर जब उन्होंने सीता का उद्धार कर लिया और सीता के बारे में लोगों को कुछ भी कहते-सुनते देखकर उनका मन मैला हो गया तो ब्रह्मा ने कहा—"आप तो उत्पत्ति, संरक्षण और विनाश के मूल स्रोत हैं। आप इस प्रकार हताश और निराश कैसे और क्यों हो रहे हैं?"

यह स्पष्ट ही है कि यहां भी कृष्ण संबंधी जन-कथा की ही भांति कृत्रिमता है। कृष्ण की भांति वे भी मनुष्य थे, जिन्हें देवत्व के आसन पर आसीन किया गया। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की भांति वे देवता बनकर पैदा नहीं हुए थे। संभवतः उनके देवत्व को संपूर्णता प्रदान करने के लिए ही यह जन-कथा रची गयी कि वे विष्णु के अवतार थे, उनकी सीता

विष्णु की पत्नी लक्ष्मी की अवतार थी।

एक दृष्टि से राम भाग्यवान था। ब्रह्मा, विष्णु और कृष्ण की तरह उसे दूसरे देवताओं के मुकाबले में नीचा नहीं देखना पड़ा। तो भी उसे ब्राह्मणों के परमपुरुष परशुराम के मुकाबले पर नीचा दिखाने का प्रयास किया गया। रामायण में यह कथा इस प्रकार दी गई है—

''मिथिला के राजा जनक से विदा लेकर जब राजा दशरथ अपनी राजधानी लौट रहा था तो उसने कुछ पक्षियों की मनहूस आवाजें सुनीं जिन्हें सुनकर वह चिन्तित हो उठा। तब वशिष्ठ ने उसे ये कहकर कि वह जंगली जानवरों से घिरा हुआ है जिनका अस्तित्व शुभ-लक्षण है, उसे आश्वस्त किया। (चौकाने वाली बात परशुराम का आगमन था।)

इस एक अपवाद को छोड़कर राम की किसी भी और दूसरे देवता के साथ प्रतिद्वन्द्विता न थी। वह जैसे थे वैसे ही बने रहे। दूसरे देवताओं की कथा इससे सर्वथा भिन्न है। बिचारे देवतागण ब्राह्मणों के हाथ के खिलौने बन गए। ब्राह्मणों ने अपने देवताओं की इतनी अवहेलना क्यों की?

देवताओं के स्थान पर देवियां

देवताओं की पूजा एक ऐसी चीज है, जो प्रायः सर्वत्र विद्यमान है। लेकिन देवियों की पूजा असाधारण बात है। इसका कारण है कि देवतागण सामान्यतया अविवाहित होते हैं, उनकी पत्नियां नहीं होतीं, जिन्हें देवियों के प्रतिष्ठित पद पर बिठाया जा सके। किसी परमात्मा के विवाहित होने का ख्याल कितना अरुचिकर है, यह इससे स्पष्ट है कि आरंभिक ईसाइयों को, यहूदी लोगों को, ईसा को ईश्वर का पुत्र मनवाने में बड़ी कठिनाई हुई थी। यहूदियों का कहना था कि जब परमात्मा विवाहित नहीं, तो कोई भी उसका पुत्र हो ही कैसे सकता है?

हिन्दुओं की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। वे न केवल देवताओं को पूजते हैं, बल्कि देवियों को भी पूजते हैं। आरंभ से ही यह बात ऐसी ही चली आ रही है।

ऋग् वेद में अनेक देवियों के नाम आते हैं, जैसे पृथ्वी, अदिति, दिति, निप्तिग्री, इन्द्राणी, प्रिस्नी, उषा, सूर्या, अग्नेयी, वरुणानि, दोदसी, राका, सिनिवलि, श्रद्धा, अरमति, अप्सरा तथा सरस्वती।

पृथ्वी बहुत प्राचीन वैदिक देवी है। वह या तो द्यौ की पत्नी मानी जाती है, या पर्जन्य की। पृथ्वी एक महत्त्वपूर्ण देवी है, क्योंकि वह बहुत से देवताओं की शक्ति संपन्न माता मानी जाती है।

काल के हिसाब से अदिति पुरामी वैदिक देवियों में से एक है। वह देवताओं की शक्ति सम्पन्न माता मानी जाती है। मित्र, अर्यमान तथा वरुण देवता-गण उसके पुत्र हैं। ऋगवेद से यह प्रकट नहीं होता कि अदिति का विवाह किसी से हुआ था?

हम दिति के बारे में केवल इतना ही जानते है कि उसका नाम अदिति के प्रतिपक्षी नाम की तरह आता है और वह उन दैत्यों की मां थी जो भारतीय पुराण-कथाओं के अनुसार देवताओं के शत्रु थे।

निप्तिग्री इन्द की माता है और इन्द्राणी देवी इन्द्र की पत्नी। पृष्णी मारुतों की मां है। उषा आकाश-पुत्री के रूप में वर्णित है। मग की बहिन भी वही थी, वरुण की रिश्तेदार थी और सूर्य की पत्नी थी। सूर्या देवी सूर्य-पुत्री थी, अश्विन या सोम देवताओं की पत्नी थी। अग्नयी देवी अग्नि की पत्नी है, वरुणानी वरुण की पत्नी है तथा रोदसी रुद्र की पत्नी है। शेष देवियां या तो नदियों के साकार रूप हैं, या ऐसे नाम हैं जिनके बारे में कुछ भी ब्योरा नहीं दिया है।

इस परिवेक्षण से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली तो यही कि हिन्दू देवता शादी कर सकते हैं और न तो उस देवता को और न उसके पुजारी को इस विषय में कुछ भी लज्जा या संकोच अनुभव करने की जरूरत है कि अमुक देवता ने एक सामान्य आदमी की तरह बर्ताव क्यों किया है? दूसरी बात यह कि देवता की पत्नी निरायास देवी बन जाती है और पुजने लगती है।

वैदिक युग को छोड़कर जब हम पुराणों के समय में पैर रखते हैं तो हमें बहुत-सी देवियों के नाम मिलते हैं, जैसे देवी, उमा, सती, अम्बिका, पार्वती, हिमवती, गौरी, काली, निररिति, चण्डी, कात्यायनी, दुर्गा, दस-भुजा, सिंहवाहिनी, महिषासुरमर्दिनी, जगत-धातृ मुक्तकेशी, तारा, छिन्न-मस्तका, जगद्-गौरी, प्रत्यङिरा, अन्नपूर्णा, गणेश-जननी, कृष्ण-करोर तथा लक्ष्मी। इन देवियों की 'कौन-कौन है' रचना बहुत कठिन है। पहली बात तो यही बताना कठिन है कि क्या जितने नाम हैं, उतनी ही देवियां हैं? अथवा देवी एक और नाम एकाधिक हैं। उनके माता-पिता के बारे में भी कुछ भी कह सकना बहुत मुश्किल है। यह भी कोई निश्चयात्मक रूप से नहीं बता सकता कि इन देवियों के पति कौन थे?

एक वृत्तान्त के अनुसार उमा, देवी, सती, पार्वती, गौरी और अम्बिका एक ही देवी के भिन्न-भिन्न नाम हैं। दूसरा मत यह है कि देवी तो यक्ष की पुत्री है, अम्बिका रुद्र की बहन है। पार्वती के बारे में वराह पुराण का कहना है—

"ब्रह्मा की प्रार्थना पर उसने अपने-आपको तीन विभागों में विभक्त कर लिया, श्वेत-वर्णा, रक्त-वर्णा तथा काली। श्वेत-वर्णा लक्ष्मी हुई, काले वर्ण की पार्वती कहलायी जो शिव की शक्ति-स्वरूपा थी।"

यहां यह सुझाने का प्रयास है कि सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती एक ही देवी के भिन्न-भिन्न रूप हैं। हम देखते हैं कि सरस्वती तो ब्रह्मा की पत्नी थी, लक्ष्मी विष्णु की पत्नी थी और पार्वती शिव की पत्नी थी और ये तीनों देवता तो आपस में लड़ते-झगड़ते ही रहे, तो वराह पुराण का उक्त समाधान समझ से परे की बात लगता है।

यह गौरी कौन है? पुराणों का कहना है कि पार्वती का ही दूसरा नाम गौरी है। ब्रह्मा द्वारा दिये गए वरदान के फलस्वरूप वह काली से गौर वर्ण की हो गई थी, इसलिए गौरी।

दूसरी देवियों का विचार करते हुए यह स्पष्ट नहीं होता कि वे भिन्न-भिन्न देवियों के भिन्न-भिन्न नाम हैं, अथवा एक ही देवी के अनेक नाम हैं।

महाभारत में अर्जुन ने दुर्गा की स्तुति की है जिससे मालूम होता है कि ऊपर जो कई नाम दिये गए हैं, उनमें से अधिकांश दुर्गा के ही नाम हैं। उसी प्रकार दस-भुजा, सिंह वाहिनी, महिषमर्दिनी, जगतधातृ, छिन्न-मस्तक, जगद्-गौरी, प्रत्यनगिरि तथा अन्नपूर्णा दुर्गा के भिन्न-भिन्न नाम हैं अथवा दुर्गा के ही रूप हैं?

ऐसा लगता है कि दो देवियाँ ही प्रधान देवियाँ हैं, एक पार्वती हैं, दूसरी दुर्गा हैं। शेष केवल नाममात्र हैं। पार्वती दक्ष प्रजापति की कन्या है और शिव की पत्नी है। दुर्गा है कृष्ण की बहन और शिव की पत्नी। दुर्गा और काली का आपसी संबंध अस्पष्ट है। अर्जुन द्वारा दुर्गा की जो स्तुति गायी गयी है, उससे लगता है कि दुर्गा और काली अभिन्न

हैं, जो दुर्गा, वही काली। लेकिन लिंग पुराण का कहना है कि दोनों पृथक-पृथक हैं। काली और है, दुर्गा और है।

यहां वैदिक देवियों और पौराणिक देवियों की यदि तुलना की जाए तो एक बात ध्यान में आती है कि वैदिक देवियों की पूजा एक शिष्टाचार मात्र थी। वे देवताओं की पत्नियां थीं, इसीलिए उनकी पूजा होती थी। पौराणिक देवियों की स्थिति सर्वथा भिन्न है। वे स्वयं पूजा की अधिकारिणी हैं। उनकी पूजा इसलिए नहीं होती कि वे किन्हीं देवताओं की पत्नियां हैं। यह भेद इसलिए उत्पन्न हुआ है क्योंकि वैदिक देवियां कभी युद्ध-भूमि पर नहीं गईं। उन्होंने कभी कोई वीरोचित काम नहीं किया।

मार्कण्डेय पुराण के अनुसार दुर्गा और असुरों में एक महान युद्ध हुआ था, जिससे दुर्गा की बड़ी प्रतिष्ठा हुई।

तब यहां एक प्रश्न पैदा होता है। वैदिक वाङ्मय असुरों के विरुद्ध लड़े गए युद्धों के वर्णनों से भरा पड़ा है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में बहुत कुछ यही सामग्री है। लेकिन असुरों के विरुद्ध ये जितने भी युद्ध लड़े गए वे वैदिक देवताओं द्वारा ही लड़े गए। वैदिक देवियों ने इन संग्रामों में कभी भी भाग नहीं लिया। पौराणिक देवियों के युग में स्थिति एकदम बदल गई। वैदिक युग में सारी लड़ाइयां देवताओं द्वारा लड़ी गईं, पौराणिक युग में केवल देवियां ही लड़ाइयां लड़ती रहीं। वैदिक युग में जो काम देवताओं ने किया, पौराणिक युग में कोई देवता थे ही नहीं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव पौराणिक युग में बराबर शासन कर रहे थे। जब वे पौराणिक युग में भी असुरों से लड़ाइयां लड़ सकते थे, तो उस युग में यह काम केवल देवियों से क्यों लिया गया?

क्या यह एक छोटी पहेली है?

दूसरा प्रश्न जो उपस्थित होता है, वह यह है कि जो शक्ति पौराणिक देवियों में थी और वैदिक देवियों में कभी नहीं थी, इसका मूल स्रोत क्या था? पौराणिक लेखकों द्वारा यह समाधान उपस्थित किया गया है कि यह शक्ति देवताओं की ही शक्ति थी, देवियां इसका केवल निवास-स्थान थीं। यह बात इतनी अधिक स्वीकृत हो गई कि हर देवी शक्ति कहलाने लगी और जो उसकी पूजा करते थे वे शाक्त माने जाने लगे।

इस सिद्धान्त के संबंध में पूछे जाने लायक एक-दो ऐसे प्रश्न हैं जो उत्तर की उपेक्षा रखते हैं।

पहला तो यही है कि पौराणिक देवियों के जो बहुत से नाम गिनाए गए हैं, उनके बावजूद केवल पांच पौराणिक देवियां यथार्थ और महत्त्व की मालूम देती हैं। उनके नाम हैं स्वरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, दुर्गा और काली। सरस्वती और लक्ष्मी ब्रह्मा और विष्णु की पत्नियां हैं। ब्रह्मा और विष्णु शिव को साथ मिलाकर पौराणिक देवता माने जाते हैं। पार्वती, दुर्गा और काली शिव की पत्नियां हैं। अब सरस्वती और लक्ष्मी ने किन्हीं भी असुरों का संहार नहीं किया। सचाई तो यह है कि कोई भी बहादुरी का काम ही नहीं किया। प्रश्न है—ऐसा क्यों हुआ? ब्रह्मा और विष्णु में भी शक्ति थी और यहां वर्णित सिद्धान्त

के अनुसार वह उनकी पत्नियों में विद्यमान रही होगी। तब सरस्वती और लक्ष्मी ने असुरों के विरुद्ध जो-जो लड़ाई लड़ी गई, उसमें भाग क्यों नहीं लिया? यह काम केवल शिव की पत्नियों ने ही अपने जिम्मे क्यों लिया? यहां भी दुर्गा से पार्वती का आचरण सर्वथा भिन्न है। पार्वती दुर्गा की तुलना में एक सरल, सीधी-सादी-सी मालूम देती है। जैसे कारनामे दुर्गा के बारे में बयान किए जाते हैं वैसे वीरता के किन्हीं भी कारनामों का श्रेय सरस्वती को नहीं दिया जाता। जैसे दुर्गा वैसे ही पार्वती भी तो शिव की शक्ति ही है। तो शिव की जो शक्ति पार्वती में थी, वह इतनी सुस्त, इतनी निकम्मी, इतनी निष्क्रिय क्यों बनी पड़ी रही? वह तो ऐसी रही, जैसे कहीं कुछ हो नहीं।

दूसरी बात है कि देवताओं से पृथक स्वतंत्र रूप से देवियों की पूजा के आरंभ के लिए यह सिद्धान्त एक अच्छा सिद्धान्त माना जा सकता है, किन्तु न तो यह तर्कानुकूल प्रतीत होता है और न ऐतिहासिक। केवल तर्कानुसार विचार किया जाए तो यदि हर देवता में शक्ति थी, तो वैदिक देवताओं में भी शक्ति रही होगी। तो यह सिद्धान्त वैदिक देवताओं की पत्नियों पर क्यों लागू नहीं हुआ? और ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हमारे पास यह कहने का कोई आधार नहीं कि वैदिक देवता सशक्त थे।

फिर ब्राह्मणों ने यह भी नहीं सोचा कि वह दुर्गा को ऐसी वीराङ्गना बनाकर जो अकेली सभी असुरों का मान मर्दन कर सके, वे अपने-अपने देवताओं को भयानक रूप से कायरता का जामा पहना रहे हैं। ऐसा लगता है कि वे पौराणिक देवता आत्मरक्षा तक नहीं कर सके और उन्हें अपनी पत्नियों से याचना करनी पड़ी कि वे आयें और उन्हें संरक्षण प्रदान करें। मार्कण्डेय पुराण में वर्णित एक घटना यह प्रकट करने के लिए पर्याप्त है कि ब्राह्मणों ने अपने देवताओं को कितना हिजड़ा बना दिया था। मार्कण्डेय पुराण में है–

"राक्षसों का राजा महिष एक बार युद्ध में देवताओं को हरा सका। उसने उन देवताओं की ऐसी दुर्दशा कर दी कि वे समस्त पृथ्वी पर घूम-घूमकर दर-दर भीख मांगने लगे। इन्द्र पहले उन्हें ब्रह्मा के पास लेकर गया और तब शिव के पास। लेकिन क्योंकि ये दोनों दूसरे देवताओं की कुछ भी सहायता न कर सके, तो वे विष्णु के पास पहुंचे।–महामाया (दुर्गा) ने उन देवताओं का त्राण किया।"

इस तरह के डरपोक देवताओं के पास कुछ भी सामर्थ्य आ ही कहां से सकती थी? जब उन्हीं के पास नहीं थी, तो अपनी पत्नियों को ही वे कहां से दे सकते थे? यह कहना कि देवियों की पूजा इसलिए करनी चाहिए क्योंकि वे शक्तिशाली हैं, एक पहेली ही नहीं है, बल्कि एक बेसिर-पैर का कथन है।

इस बात की खोज होनी चाहिए कि इस शक्ति के सिद्धान्त का आविष्कार किस बात के लिए किया गया?

क्या ब्राह्मणों ने देवियों की पूजा का कार्यक्रम इसीलिए आरंभ किया कि उन्हें अपना धन्धा चलाने के लिए एक नया माल मिल जाए।

उन्होंने देवताओं को क्यों नीचे पटक दिया?

अहिंसा और फिर अहिंसा

यदि कोई आदमी प्राचीन आर्यों की आदतों और सामाजिक चर्या की तुलना बाद के हिन्दुओं और उनकी सामाजिक चर्या के साथ करेगा तो दोनों में बहुत फर्क पाएगा, ऐसा लगेगा कि मानों सामाजिक क्रान्ति हो गई हो।

आर्यजन जुआरियों की जाति थी। आर्य सभ्यता के आरंभिक युग में ही जुआ खेलने ने लगभग एक विज्ञान का रूप ले लिया था, यहां तक कि उसके लिए विशेष तान्त्रिक शब्दावली तैयार हो गई थी। जिन चार युगों अथवा समय के विभाजनों में ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश कर रखा है, उनके नाम दिए हैं कृत—(= सत्) युग, त्रेता युग, द्वापर युग तथा कलियुग। वास्तव में ये उन अक्षों के नाम थे, जिनका आर्य जन जुए में प्रयोग किया करते थे। भाग्यवान् पांसा कृत कहलाता था और जो सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण होता था, वह 'कलि' कहलाता था। उन दोनों के बीच के पांसे, त्रेता तथा द्वापर कहलाते थे। प्राचीन आर्यों में जुए की प्रथा तो बहुत विकसित थी ही, उनमें जो बाजी लगाई जाती थी, वह भी बड़ी ऊंची होती थी। अन्यत्र भी बड़ी-बड़ी रकमों की बाजी प्रचलित रही हैं। लेकिन आर्य-जन जैसी बाजी लगाते थे, उनके मुकाबले में वे बाजियां कुछ नहीं हैं। राज्य और कभी-कभी अपनी पत्नियां तक उनके द्वारा बाजी पर लगा दी जाती थीं। नल राजा ने अपना राज्य बाजी पर लगा दिया था और हार गया था, पाण्डव इससे भी बहुत आगे बढ़ गए थे। उन्होंने न केवल अपने राज्य को बाजी पर लगाया, बल्कि अपनी पत्नी द्रौपदी को भी। वे दोनों को गंवा बैठे। आर्यों में जो जुआ-प्रथा थी वह केवल धनी लोगों का खेल नहीं था; वह अधिकांश लोगों का दुर्गुण था। प्राचीन आर्यों में जुआ इतना अधिक प्रचलित था कि धर्म-सूत्रों के रचयिताओं को इस तरह के सूत्र रचने पड़े जिनका उद्देश्य था कि राजाओं पर जोर डाला जाए कि वे जुए के विरुद्ध कड़े-से-कड़े नियम बनाएं!

आर्यों में लैंगिक सदाचार अत्यन्त ढीला-ढाला था। एक समय था जब वे यह न जानते थे कि विवाह पुरुष-स्त्री के बीच किसी स्थाई संबंध का नाम है। पाण्डु पत्नी कुंती को जब पाण्डु ने किसी दूसरे से सन्तानोत्पत्ति के लिए कहा तो उस समय उसने जो उत्तर दिया, उससे यह बात पुष्ट होती है। एक समय था जब आर्य-जन लैंगिक सदाचार के विषय में जो क्रमिक विधि-निषेध थे, उनमें से किसी को भी न मानते थे। इस तरह के

उदाहरण हैं जब भाइयों ने बहनों के साथ, पुत्रों ने माताओं के साथ, पिता ने पुत्री के साथ और दादा ने पोती के साथ संसर्ग किया है। स्त्रियों को लेकर पूरा साम्यवाद था। यह एक सहज सरल साम्यवाद था जब बहुत से आदमी एक ही औरत में हिस्सेदार होते थे और किसी का भी किसी एक ही औरत पर एकाधिकार न होता था। इस तरह के साम्यवाद में स्त्री गणिका कहलाती थी, गण अर्थात् समूह की संपत्ति। स्त्रियों को लेकर आर्यों में एक क्रम-बद्ध साम्यवाद भी प्रचलित था। इसमें अनेक आदमी हिस्सेदार होते थे, लेकिन उनके दिन निश्चित थे और स्त्री वारांगना कहलाती थी, निश्चित वारों वाली। वेश्या-वृत्ति बढ़ी और उसने भयानक रूप धारण कर लिया। अन्यत्र कहीं भी वेश्याओं ने खुले-आम, सार्वजनिक रूप से मैथुन-क्रिया में संलग्न होना स्वीकार नहीं किया है। लेकिन प्राचीन आर्यों में ऐसी प्रथा थी। प्राचीन आर्यों में पशु-संसर्ग भी विद्यमान था। कुछ बड़े आदरणीय ऋषि भी इस दोष के दोषी रहे हैं।

प्राचीन आर्य शराबियों की भी एक नसल थे। शराब (सोमरस) उनके धर्म का एक आवश्यक अंग था। वैदिक देवता गण सोमरस पीते थे। उनके दैवी मादक-द्रव्य का नाम ही था सोमरस। जब वैदिक देवता ही सोमरस पान करते थे, तो वैदिक आर्यों को भी (सोमरस) पान करने में क्या आपत्ति हो सकती थी? पीना तो वास्वत में वैदिक आर्य का धार्मिक कर्तव्य था। आर्य-जन इतने सोमयज्ञ किया करते थे कि शायद ही कोई दिन बचता होगा, जब वे सोमरस का पान न करते होंगे। सोम-रस तीन वर्णों के लिए विहित था—ब्राह्मणों के लिए, क्षत्रियों के लिए, वैश्यों के लिए। इसका यह मतलब नहीं कि शूद्र मादक द्रव्यों के सेवन से दूर-दूर रहते थे। जिनको सोमरस न मिलता था, वह सुरा का पान करते थे—देसी शराब। केवल पुरुष-जन ही शराब का सेवन नहीं करते थे, स्त्रियां भी करती थीं। कौशीतकी गृह्यसूत्र का निर्देश है कि जो विधवा न हो और जो शराब पीकर तथा खाना खाकर मदमस्त न हो गई है, ऐसी चार-पांच स्त्रियों को शादी के दिन पहले नाचना चाहिए। यह मदमस्त कर देने वाली शराब के पीने की आदत अब्राह्मण स्त्रियों तक सीमित न थी। ब्राह्मण स्त्रियां भी पीती ही थीं। पीना उस समय पाप तो माना ही न जाता था, एक दुर्गुण भी नहीं माना जाता था, यह एक साधारण सम्माननीय अभ्यास था।

राम और सीता भी शराब पीते थे, इसे वाल्मीकि रामायण ने स्वीकार किया है। उत्तरकाण्ड में लिखा है—

"जैसे इन्द्र अपनी पत्नी शची के साथ पीता था, रामचन्द्र और सीता भी मद्य-पान करते थे। नौकर रामचन्द्र के लिए मांस और मधुर फल लाते थे।"

कृष्ण और अर्जुन की भी यही चर्या थी। महाभारत के उद्योग-पर्व में लिखा है—

"मधु से निर्मित शराब को पिए हुए अर्जुन और श्रीकृष्ण एक स्वर्णिम सिंहासन पर विराजमान थे। उनके बदन सुवासित थे और उन्होंने हार पहने हुए थे। उनके वस्त्र और गहने शानदार थे। उनके सिंहासन में हीरे जड़े थे। मैंने देखा कि श्रीकृष्ण के पांव अर्जुन की गोद में हैं और अर्जुन के पांव द्रौपदी तथा सत्यभामा की गोद में।"

जो सबसे बड़ा परिवर्तन हुआ है, वह खान-पान को लेकर हुआ है। आज का हिन्दू खान-पान को लेकर बहुत चिन्तित नजर आता है। उसके साहचर्य पर दो प्रकार के प्रतिबंध लगे हैं। एक हिन्दू गैर-हिन्दू का बनाया खाना नहीं खाएगा, जब तक वह ब्राह्मण न हो या उसी की जाति का न हो। हिन्दू को केवल इसी बात की चिन्ता नहीं रहती कि वह किसी के हाथ का पकाया खाए, उसे इस बात की भी फिकर रहती है कि वह क्या खाए और क्या न खाए?

खाने-पीने के हिसाब की दृष्टि से हिंदुओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) शाकाहारी

(2) मांसाहारी। मांसाहारी के भी आगे कई उप-विभाग हैं—

(क) जो केवल मछली खाते हैं—

जो मांसाहारी हैं उनके भी उपविभाग हैं—

(1) जो गोमांस छोड़कर शेष सभी पशुओं का मांस खा सकते हैं।

(2) जो गो मांस भी खा सकते हैं।

(3) जो चाहे मरी हो, चाहे मारी गई हो, गौ के मांस को छोड़कर और मुर्गी के बच्चे के मांस को छोड़कर सभी का मांस खा लेंगे।

खान-पान की दृष्टि से यदि हिन्दू जनसंख्या का विश्लेषण करें तो ब्राह्मणों को दो वर्गों में बांट सकते हैं—(1) पञ्च-गौड़, तथा (2) पञ्च-द्रविड़।

इनमें से पञ्च द्रविड़ संपूर्ण रूप से शाकाहारी हैं। गौड़ सारस्वतों का अपवाद छोड़ दें तो पञ्च-गौड़ भी पूर्ण शाकाहारी हैं। समाज के दूसरे सिरे पर माने जाने वाले अछूत मांसाहारी हैं। वे केवल बकरियां और मुर्गियों का ही मांस नहीं खाते, बल्कि गो-मांस भी खाते हैं, भले ही वह अपने से मरे हों या मारी गई हों। जो गैर-ब्राह्मण ब्राह्मणों और अछूतों के बीच में हैं उनका अपना-अपना क्रम है। कुछ ब्राह्मणों की तरह शाकाहारी हैं, कुछ ब्राह्मणों से भिन्न अर्थात् मांसाहारी हैं। एक बात में सभी समान हैं। सभी गोमांस खाने के विरुद्ध हैं।

इस प्रश्न का एक दूसरा पहलू भी है, जिसकी चर्चा आवश्यक है। यह खुराक के लिए किसी भी जानवर के मारने और न मारने का प्रश्न है। इस विषय में कम या अधिक मात्रा में हिन्दुओं का मत एक ही है। खाने के लिए भी कोई हिन्दू किसी प्राणी की हत्या न करेगा। खटीक नाम की एक छोटी-सी जाति के अतिरिक्त हिन्दुओं में और कसाई नहीं होते। अछूत भी किसी जानवर की हत्या न करेगा। वह मरी हुई गौ का मांस खा लेगा, लेकिन वह गौ को मारेगा नहीं। आज भारत में केवल मुसलमान ही कसाई का धन्धा करते हैं। यदि कोई हिन्दू भी खाने के लिए किसी पशु का वध करना चाहता है तो उसे किसी मुसलमान का ही सहयोग अपेक्षित होगा। प्रत्येक हिन्दू अहिंसा में विश्वास करता है।

शाकाहार ने भारत में कब प्रवेश किया? अहिंसा कब से एक सुनिश्चित मान्यता बनी? बहुत से हिन्दू हैं जो इस प्रश्न के औचित्य को ग्रहण नहीं कर पाते। उनका मत

है कि शाकाहार और अहिंसा भारत के लिए कोई नई चीजे नहीं हैं।

आजकल के हिन्दुओं के पूर्वज प्राचीन आर्य न केवल मांसाहारी थे, बल्कि गोमांसाहारी भी थे, इस विषय में भरपूर सामग्री है।

मधुपर्क का ही प्रकरण लें। प्राचीन आर्य जनों में अतिथि का स्वागत करने के लिए मधु-पर्क का दान दिया जाता था, यह बात सुनिश्चित है। गृह्य-सूत्रों के अनुसर छह लोग मधुपर्क के अधिकारी हैं। वे हैं (1) ऋतित्व, यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण, (2) आचार्य, (3) वर या खाविन्द (4) राजा (5) गुरुकुल का स्नातक (6) मेजबान का कोई अपना प्रिय व्यक्ति। कुछ लोग अतिथि को भी उक्त सूची में ले लेते हैं। ऋतित्व, राजा और आचार्य को छोड़कर शेष अतिथियों को वर्ष में एक ही बार मधुपर्क देना चाहिए। ऋतित्व, राजा और आचार्य जिस-जिस समय भी वे आयें उस-उस समय उनका स्वागत होना चाहिए। उसकी पद्धति थी कि पहले मेजबान द्वारा अतिथि के पांव धोए जाएं और तब मधुपर्क भेंट किया जाए।

मधुपर्क में क्या-क्या पड़ता था? मधुपर्क का शब्दिक अर्थ है वह संस्कार जिसमें आदमी के हाथों पर मधु डाला जाता है। यह मधुपर्क कैसे बनता था, उसमें क्या-क्या पड़ता था, समय-समय पर उसमें फर्क पड़ता रहा है। ऋगवेद का कहना था कि मधुपर्क में मांस का होना अनिवार्य है।

मांसाहार एक सामान्य बात थी। ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक हर कोई मांस खाता था। धर्मसूत्रों में पशुओं, पक्षियों तथा मछलियों के मांस के बारे में बहुत से नियम दिए गए हैं। आपस्तंब सूत्र का कहना है कि दुधारी गाय और बैल का मांस भी अपवाद स्वरूप खाया जा सकता है, क्योंकि वह पवित्र होता है।

'हिंसा से अहिंसा' की ओर यह अहिंसा के प्रकरण का एक हिस्सा मात्र है। अगला हिस्सा हो सकता है, अहिंसा से वापिस हिंसा की ओर। इस कथानक का यह अगला हिस्सा तभी स्पष्ट होगा जब हम तन्त्रों और उनके तन्त्रवाद के विषय में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त कर लेंगे।

तान्त्रिक पूजा पाठ के लिए ऐसी पांच बातों का, जिनके नामों का पहला अक्षर 'म' है, अर्थात् पांच मकारों का होना आवश्यक है। ये पांचों 'म' वर्ण हैं—

(1) मद्य (हर तरह की शराबें)।

(2) मांस।

(3) मछली

(4) मुद्रा—भूने हुए दाने

(5) मैथुन।

यहां मैथुन को पूजा का एक अंग बना दिये जाने के बारे में कुछ भी कहना अनावश्यक है। मद्य और मांस की चर्चा कर लेना पर्याप्त होगा।

तांत्रिक क्रियाओं के प्रथम चार अंशों को लेकर तंत्र-ग्रंथों ने बारह प्रकार की शराबों और तीन प्रकार के मांसों का जिक्र किया है। एक प्राचीन ऋषि पुलस्त्य ने भी बाहर प्रकार

की शराबों का उल्लेख किया है।

इन बारह नशीले पेय पदार्थों के अतिरिक्त दूसरे भी तीन प्रकार के नशीले पेय पदार्थ हैं। टण्का, कोली और कादम्बरी में से कादम्बरी बलराम का प्रिय पेय पदार्थ थी।

मांस पक्षियों का भी हो सकता था, पशुओं का भी हो सकता था और मछलियों का भी हो सकता था। प्रत्येक प्रकार के पेय पदार्थ के पान के साथ विशेष पुण्य और उसका विशेष लाभ जुड़ा हुआ था। ''इस प्रकार एक पेय के पीने से मुक्ति मिलती थी, दूसरे से विद्या, तीसरे से शक्ति, चौथे से धन, पांचवें से शत्रु-नाश, छठे से रोग-निवारण, सातवें से पाप से छूट और आठवें से आत्म-शुद्धि।''

तान्त्रिक पूजा बंगाल में बहुत गहराई तक पैठ गई थी। अपने निजी अनुभव के आधार पर राजेन्द्र लाल मित्र ने लिखा है—

''मैं एक अत्यन्त आदरणीय परिवार की विधवा महिला को जानता था, जिसका संबंध कलकत्ते के बहुत बड़े सम्मानित परिवार से था। वह कौल सम्प्रदाय की थी और 75वां वर्ष पार कर चुकी थी। वह नियम से प्रतिदिन सुबह-शाम अपनी प्रार्थना करती थी। लेकिन शायद एक भी दिन ऐसा नहीं होगा जब उसने अपनी दातुन को शराब की शीशी में भिगोकर उस दातुन से अपनी जिह्वा का स्पर्श किए बिना अपनी पूजा की हो। वह जिन फूलों को भगवान को अर्पित करती थी, उन फूलों पर भी शराब की कुछ बूंदें छिड़क लेती थीं। मुझे इसमें बड़ा सन्देह है कि उसने अपने जीवन में शायद ही कभी शराब का एक गिलास भी एक साथ पिया हो और यह निश्चित ही है कि उसे शराब पीने की मस्ती का कुछ भी अनुभव नहीं था। लेकिन अपने कौल धर्म को दृढ़तापूर्वक मानने वाली की हैसियत से वह अपने धर्म के आदेश का पालन करती थी। मैं यह मानकर चलता हूं कि दूसरे भी ऐसे ही हजारों लोग हैं जो इसी प्रकार का व्यवहार करते हैं। बंगाल के उन हिस्सों में जहां यह अर्क आसानी से नहीं मिलता, अपने धर्म का आग्रह रखने वाली ये देवियां नारियल के दूध की कुछ बूंदें एक प्याले में डालकर उस अर्क का एक स्थानापन्न पदार्थ तैयार करती हैं या तांबे के बरतन में दूध डालकर उसी की कुछ बूंद पी लेती हैं। आदमी कुछ इतने संयमी नहीं होते। तन्त्र उन्हें पांच प्याले प्रतिदिन पीने की अनुमति देते हैं। वे प्याले ऐसे बने होते हैं कि इनमें पांच तोले या दो औंस शराब आ जाती है। इसका मतलब है कि उनका धर्म उन्हें लगभग दस औंस शराब रोज पीने की अनुमति देता है।''

तन्त्र पूजा बंगाल के छोटे कोने तक ही मर्यादित न थी। महामहोपाध्याय जड़देश्वर तर्करतन का कथन है—''जैसे ऊंची जातों के बंगाली शाक्तों, वैष्णवों और शैवों में विभक्त हैं, उसी प्रकार कामरूप, मिथिला, उत्कल, कलिंग और कश्मीर के पण्डित भी हैं। शक्ति-मन्त्र, शैव-मन्त्र और विष्णु-मन्त्र सभी तान्त्रिक हैं। दाक्षिणात्यों में महामहोपाध्याय सुब्रमण्य शास्त्री और अनेक दूसरे विद्वज्जन शाक्त हैं। स्वर्गीय महामहोपाध्याय राम मिश्र शास्त्री, भगवदाचार्य और दूसरे बहुत से लोग वैष्णव रहे हैं और हैं। महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री और अनेक वैसे ही दूसरे लोग शैव हैं। वृन्दावन में बहुत से शाक्त और वैष्णव

ब्राह्मण हैं। हां, महाराष्ट्र की ऊंची जातियों में तथा दक्षिण के कुछ राज्यों में शाक्तों की अपेक्षा शैव और वैष्णव अधिक हैं। पाशुपत तथा जंगम सम्प्रदाय के अनुयायी शैव हैं, जबकि माधवाचार्य और रामानुजाचार्य के अनुयायी वैष्णव हैं। उत्तर-पश्चिम में बहुत लोग राम-मन्त्र में दीक्षित हैं। ये राम-मन्त्र तंत्र के ही अन्तर्गत हैं। यह बात अपने में कितनी अनोखी है कि श्री पुरुषोत्तम के सभी पाण्डे शाक्त हैं और कामाख्या देवी के सभी पुजारी वैष्णव हैं।''

यद्यपि यह बता सकना आसान नहीं कि तन्त्र और तन्त्र-पूजा कब आरंभ हुई किन्तु इतना कहा ही जा सकता है कि यह मनु के बाद ही आरंभ हुई होगी। तन्त्र-पूजा का उद्गम सचमुच एक आश्चर्य का विषय है। मनु ने शराब और मांस का प्रयोग करने के मामले में जो निषेधाज्ञाएं दी थीं, तन्त्र ने न केवल उन्हें अमान्य ठहरा दिया, बल्कि उन्होंने शराब पीने और मांस ग्रहण करने को एक धार्मिक आचरण का रूप दे दिया।

ब्राह्मणों ने तन्त्रों को तथा तन्त्र-पूजा को आगे बढ़ाने में जो हिस्सा लिया वह सचमुच आश्चर्य का विषय है। तन्त्रों में वेदों के लिए तनिक भी आदर-बुद्धि नहीं है। तान्त्रिकों का कहना था कि वेद उसमें सामान्य नारी के सदृश हैं जिसका किसी से भी संसर्ग होता है और तन्त्र उच्च कुलोत्पन्न स्त्री के समान हैं जो बहुत सुरक्षित रहती है। ब्राह्मणों ने तन्त्र का कभी खण्डन नहीं किया। उन्होंने तो इसे पांचवाँ वेद कहकर प्रतिष्ठा प्रदान की। मनुस्मृति के भाष्यकार कुल्लुक भट्ट जैसे कट्टरपन्थी का कहना है कि श्रुति के दो प्रकार हैं—(1) वैदिक तथा (2) तान्त्रिक। ब्राह्मणों ने इतना ही नहीं कि तन्त्र का खण्डन नहीं किया, उन्होंने तो तन्त्र का समर्थन किया। मातृक भेद तन्त्र में शिव अपनी पत्नी पार्वती को संबोधित करते हैं—

''हे मधुरभाषिनी देवी! पीने से ही ब्राह्मणों को भक्ति मिल सकती है। मैं तुम पर एक महान सत्य प्रकट करता हूं। हे गिरिजा! मैं तुम्हें कहता हूं कि जब ब्राह्मण शराब और उसके साथ की चीजों को ग्रहण करता है, वह तुरंत शिव हो जाता है। जैसे पानी पानी के साथ मिश्रित हो जाता है, धातु का धातु के साथ मेल हो जाता है, जैसे किसी घड़े के भीतर का आकाश किसी बड़े बरतन के भीतर के आकाश के साथ एकाकार हो जाता है, जैसे वायु-वायु के साथ एक हो जाती है, ठीक उसी तरह एक ब्राह्मण विश्वात्मा ब्रह्म लीन हो जाता है।

''इस विषय में सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं है। दैवत्व से समानता रखने वाली स्थिति और दूसरे-दूसरे प्रकार के परसुख क्षत्रियों तथा दूसरों के लिए विहित हैं, लेकिन नशीली शराब के बिना पिये सत्यज्ञान प्राप्त हो ही नहीं सकता। इसलिए ब्राह्मणों को हमेशा नशीले पदार्थ ग्रहण करते रहना चाहिए। कोई भी आदमी वेदों की जननी गायत्री के दोहराने से ब्राह्मण नहीं बनता, वह ब्राह्मण तभी कहलाता है जब उसे ब्रह्म का ज्ञान होता है। देवताओं का अमृत उनका ब्रह्म और पृथ्वी का अमृत अर्क है, या चावल से बनी शराब है। क्योंकि इस प्रकार की शराब पीने से आदमी को सुरत्व या सुरभाव की प्राप्ति हो जाती है, इसलिए यह सुरा कहलाती है।''

ब्राह्मणों ने अपने पितृतुल्य मनु का खण्डन क्यों किया और फिर नये सिरे से शराब पीना और मांस खाना कैसे आरंभ किया?

यह भी एक पहेली ही है।

अहिंसक देवता और रक्तपायी देवी

पीना और मांस खाना आरंभ करने के बाद ब्राह्मणों को पशु-बलि का प्रचार करने के लिए ऐसे पुराण लिखने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। एक ऐसे पुराण की विशेष चर्चा करनी होगी। इसका नाम है–कलि पुराण। यह पुराण काली माई की ही पूजा का प्रचार करने के लिए लिखा गया है। इस पुराण में एक अध्याय है रुधिर अध्याय, रक्तरंजित परिच्छेद।

मैं यहां रुधिर अध्याय का सारांश दे रहा हूं। इस अध्याय में शिव ने अपने बेताल, भैरव और भैरव नाम के पुत्रों को इस प्रकार संबोधित किया है–

''हे मेरे पुत्रो! मैं तुम्हें वे क्रियाएं और नियम बताता हूं जिनके अनुसार यज्ञ करने से और जिनका पालन करने से दैवी अनुकम्पा की प्राप्ति होती है।

''सभी अवसरों पर वैष्णवी तन्त्र की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। सभी देवताओं के प्रति बलि दी जानी चाहिए।

''चण्डिका देवी, भैरवी के लिए इन सभी प्राणियों की बलि योग्य बलि है–पक्षियों की बलि, कछुओं की बलि, मगरमच्छों की बलि, मछलियों की, नौ प्रकार के जंगली जानवरों की, भैंसों की, वृषभों की, बकरों की, जंगली सुअरों की, गैंडों की, बारहसिंगों की, ग्वाना पक्षी की, जंगली हिरनों की, शेरों की, चीतों की और आदमियों की। बलि चढ़ाने वाले के अपनी शरीर का खून भी योग्य बलि है।

''बलि देने से ही राजकुमारों को परमानन्द, स्वर्ग और शत्रुओं पर विजय प्राप्त होती है।

''मछली और कछुए की बलि चढ़ाने से देवी को जो प्रसन्नता होती है, उसकी अवधि एक मास है। मगरमच्छ की बलि से तीन महीने। जंगली जानवरों के नौ प्रकारों की बलि देने से देवी नौ महीनों तक प्रसन्न रहती है। वह इतने ही समय बलि चढ़ाने वाले पर अनुकम्पा बनाये रखती है। जंगली वृषभ का रक्त देवी को एक वर्ष तक प्रसन्न रखता है। बारहसिंगे और जंगली सुअर का बलिदान बाहर वर्षों तक। सरभस का रक्त देवी को पच्चीस वर्षों तक प्रसन्न रखता है, और भैंसे का रक्त सौ वर्ष तक। चीता का भी उतने ही वर्षों तक। शेर और आदमी का बलिदान ऐसी प्रसन्नता प्रदान करता है, जो एक हजार वर्ष तक चलती है। इन जानवरों का मांस भी उतने समय तक के लिए प्रसन्नता प्रदान करता है, जितने समय तक उनका रक्त। अब एक बारहसिंगे के मांस की और रोहित

नाम की मछली की बलि चढ़ाने से जो फल मिलता है, उसकी ओर ध्यान दो।

''बारहसिंगे का मांस देवी को पांच सौ वर्षों तक प्रसन्नचित्त बनाए रखता है। रोहित मछली की बलि काली को तीन सौ वर्षों तक प्रसन्न रखती है।

''ऐसी साफ बकरी जो चौबीस घण्टों में केवल दो बार पानी पीती है, जिसके अंग पतले-दुबले होते हैं और जो अपनी मण्डली में मुखिया होती है, वर्धृनासा कहलाती है। वह देवताओं और पितरों को दी जाने वाली श्रेष्ठ बलि मानी जाती है।

''ऐसा पक्षी जिसका कण्ठ नीला होता है, सिर लाल होता है और टांगें काली होती हैं, पर सफेद होते हैं वर्धृनासा कहलाता है। वह पक्षियों में राजा होता है। उसकी बलि मुझे और विष्णु को विशेष प्रिय है।

'जिस विधि का उल्लेख किया गया है, उस विधि से जो नर-बलि दी जाती है वह देवी को एक हजार वर्ष तक प्रसन्न रखती है। तीन आदमियों की नर-बलि एक लाख वर्ष तक। पवित्र धर्म ग्रन्थों के पाठ द्वारा पवित्र बनाए गए रक्त की बलि अमृत के समान है। सिर की बलि देने से भी चण्डिका को विशेष प्रसन्नता होती है। इसलिए जो विद्वज्जन हैं, जब वे देवी को बलि चढ़ाएं तो रक्त और सिर की बलि दें और अग्नि-यज्ञ जब करें तो मांस की आहुति दें।

''जो बलि देने वाला है उसे इस बात की खास सावधानी बरतनी चाहिए कि खराब मांस की बलि न चढ़ाई जाए क्योंकि रक्त और सिर दोनों अमृत के समान माने जाते हैं।

''तूंबा, गन्ना, कच्ची शराब, पक्की शराब बलि के दूसरे पदार्थों के समान माने जाते हैं और देवी को उतने ही समय के लिए प्रसन्न रखते हैं जितने समय के लिए बकरी का बलिदान प्रसन्न रखता है।

''चन्द्रहास या गात्री द्वारा पशु का जो वध किया जाता है वह सर्वश्रेष्ठ विधि मानी जाती है, चाकू या छुरे के साथ वह मध्यम दर्जे की विधि और फावड़े जैसी किसी चीज के द्वारा जो हत्या की जाती है वह निकृष्टतम-विधि।

'इन अस्त्र-शस्त्रों के अतिरिक्त तीर जैसे किसी आयुध से बलि के पशु का वध नहीं किया जाना चाहिए। इस प्रकार की दी गई बलि को देवता स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार बलि चढ़ाने वाले की मृत्यु हो जाती है। जो आदमी बलि के जानवर या पक्षी का सिर अपने हाथों से मरोड़ डालता है उसे ब्राह्मण-वध के समान पाप लगता है और वह बहुत कष्ट पाता है।''

''पण्डितों को चाहिए कि पवित्र धर्म ग्रन्थों द्वारा आह्वान किए जाने से पूर्व पशु-वध करने में किसी भी कुल्हाड़ी आदि का प्रयोग न करें। वैदिक मंत्रों को साथ मिला देना चाहिए। दुर्गा और कामाख्या देवी को बलि चढ़ाते समय तो ऐसा करना ही चाहिए।''

इसके आगे काल रात्रि मंत्र दिया गया है।

''जिस बर्तन में रक्त का संचय किया जाता है वह बलि चढ़ाने वाले की सामर्थ्य

के अनुसार सोने-चांदी से लेकर मिट्टी तक का हो सकता है।

''लोहे के बर्तन में रक्त संचय नहीं किया जाना चाहिए।''

''अश्वमेध यज्ञ को छोड़कर अन्य अवसरों पर घोड़े की बलि नहीं दी जानी चाहिए। इसी प्रकार गज-मेध के अवसर को छोड़कर हाथियों की बलि भी नहीं देनी चाहिए।

''किसी ब्राह्मण को किसी शेर या चीते की बलि कभी भी नहीं चढ़ानी चाहिए। उसे अपने रक्त और किसी नशीली शराब की भी बलि नहीं चढ़ानी चाहिए।

''यदि ब्राह्मण अपने रक्त की बलि चढ़ाता है तो यह ब्रह्महत्या के जैसा पाप होता है और यदि वह शराब की बलि चढ़ाता है तो वह तुरन्त ब्राह्मणत्व से च्युत हो जाता है।

''किसी क्षत्रिय को किसी बारहसिंगे की बलि नहीं चढ़ानी चाहिए। यदि वह चढ़ाता है तो वह ब्रह्म-हत्या के पाप का भागी होता है। यदि कहीं शेर, चीते या आदमी की बलि चढ़ाना अनिवार्य ही हो तो मक्खन आदि पदार्थों से उनका स्थानापन्न बना लेने चाहिए और उनकी बलि दे देनी चाहिए।''

इससे आगे भैंसे आदि का बलिदान करने का विधान है। उसकी सविस्तार विधि भी दी गई है।

जो मादा हो, वह चाहे चौपाया हो और चाहे पक्षी जाति का हो, उसका वध नहीं किया जाना चाहिए। जो ऐसा करता है वह नरक-गामी होता है। जहां मादा जाति की अधिकता हो वहां ऐसा करना क्षम्य माना जा सकता है। लेकिन जहां तक मानवों का संबंध है, वहां तो इस नियम का साग्रह पालन होना ही चाहिए।

''एक ब्राह्मण और एक चांडाल की भी हत्या नहीं की जानी चाहिए। किसी राजकुमार का भी वध नहीं किया जाना चाहिए। ऐसे किसी का भी वध नहीं किया जाना चाहिए जो किसी ब्राह्मण या किसी देवता को भेंट में दिया गया हो। किसी राजकुमार की संतान का भी वध नहीं किया जाना चाहिए और किसी संग्राम-विजयी का भी नहीं। किसी ब्राह्मण या क्षत्रिय की भी सन्तति का वध नहीं किया जाना चाहिए। ऐसे भाई का भी नहीं जो निस्सन्तान हो, किसी पिता का भी नहीं, किसी विद्वान का भी नहीं, किसी अनिच्छुक का भी नहीं, बलि चढ़ाने वाले मामा का भी नहीं।.....यदि दूसरे जानवर उपलब्ध हों तो एक चीते, ऊंट और गधे का वध नहीं किया जाना चाहिए।

इसके आगे विधि-कर्ता के लिए विस्तृत विधि बतायी गई है।

जहां शराब की भेंट चढ़ानी अनिवार्य हो, वहां सवर्णी लोगों को उसके स्थानापन्न पेय पदार्थ चढ़ाने चाहिए।

यदि बिना राजा की अनमुति के नर-बलि दी जाती है, तो नरबलि देने वाला पाप का भागी होता है। कोई तात्कालिक खतरा हो या युद्ध हो तो स्वयं राजाओं द्वारा या उनके मन्त्रियों द्वारा नर-बलि दी जा सकती है। किसी दूसरे के द्वारा नहीं।

''नर बलि देने के एक दिन पहले जिसकी बलि देनी हो उसे तैयार कर लेना चाहिए, अभिमंत्रित कर लेना चाहिए।

नर-बलि के पात्र व्यक्ति को रस्सी और मंत्रों से भी बांधे रखकर उसका सिर काट लेना चाहिए और देवी को अर्पित कर देना चाहिए।

"उक्त विधि-विधान के अनुसार जो यज्ञों का कर्ता है, जो बलि चढ़ाता है, उसकी अधिक-से-अधिक इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है।

यही वह धर्म है, जिसका कलि पुराण ने प्रचार किया है।

शताब्दियों तक मनु द्वारा उपदिष्ट अहिंसा का पालन करने के अनन्तर अब यहां हिंसा-तन्त्रों की हिंसा-नंगा नाच नाच रही है, पशुओं की हिंसा ही नहीं नर-बलि भी। कलि-पुराण के खूनी परिच्छेद में वर्णित हिंसा भारत में पर्याप्त मात्रा में प्रतिष्ठित हो गई थी। जहां तक पशु-हिंसा की बात है, कलकत्ते की काली मन्दिर में जो कुछ घटता है वह उसके अस्तित्व का अकाट्य-प्रभाव है। यह मन्दिर एक नियमित कसाई-खाने का रूप लिए है, जहां काली माई को प्रसन्न करने के लिए सैकड़ों बकरियां रोज-रोज काटी जाती हैं। उसकी यदि कोई व्याख्या संभव है तो वह यही कि यह सब कुछ कलि पुराण की शिक्षा के अनुरूप है। केवल काली माई के सामने नर-बलि नहीं दी जाती है। लेकिन उसका यह मतलब नहीं कि नर-बलि कभी दी ही जाती नहीं रही। हमारे पास इसके अनेक प्रमाण हैं कि पशु-बलि की ही तरह कलि पुराण के शिक्षण के अनुसर नर-बलि भी दी जाती रही है। राजेन्द्र लाल मित्र का कहना है—

"यह बात सर्वविदित है कि बहुत समय तक नर-बलि की प्रथा सारे हिन्दुस्थान में प्रचलित थी और ऐसे लोगों की कमी नहीं जो यह विश्वास करते हैं कि अब भी भारत के किसी नुक्कड़ में, किसी-न-किसी कोने में देवी को प्रसन्न करने के लिए नर-बलि दी जाती है।"

अब इस संबंध में जो बात विशेष रूप से ध्यान देने की है, वह यह है कि काली तो शिव की पत्नी है। जो प्रश्न सामने आता है, वह यह है कि क्या शिव पशु-बलि को स्वीकार करते हैं? इस प्रश्न का सही उत्तर यही है कि एक ऐसा समय था जब शिव पशु-बलि के ही आधार पर जीवित थे।

आज के शिवजी के पुजारियों को इस कथन से कुछ आश्चर्य होगा। लेकिन जो इसका प्रमाण चाहते हैं वे आश्वलायन गृह्यसूत्र के पन्नों को पलटकर देख लें जहां शिवजी को प्रसन्न करने के लिए की गई एक वृषभ-बलि का सविस्तार विवरण दिया गया है।

आज शिवजी पशु-बलि को स्वीकार नहीं करते। शिवजी की पूजा के इस आकार-परिवर्तन का कारण है अहिंसा के सिद्धान्त की स्वीकृति। पहले हिंसक से अहिंसक बनकर ब्राह्मणों ने एक हिंसक देवता को अहिंसक देवता बना दिया। शिव के एक अहिंसक देवता बन चुकने के बहुत समय बाद काली पूजा की संस्कृति अस्तित्व में आई। लोभी शिव की पत्नी काली हिंसक देवी बना दी गई।

इसका दुखद परिणाम यह हुआ कि एक अहिंसक देवता—शिव की पत्नी एक भयानक रक्त पिपासु देवी—काली के रूप में परिणत हो गई। इस पहेली का क्या समाधान है? ऐसा हुआ, किन्तु क्यों हुआ और कैसे हुआ?

चारों वर्णों का मूल

प्रत्येक हिन्दू की यह मूलभूत धारणा है कि हिन्दुओं की समाज-व्यवस्था ईश्वरीय रचना है। इस ईश्वरीय समाज-व्यवस्था के तीन अंग हैं। पहली बात तो यह कि यह समाज चारों वर्णों में स्थाई रूप से विभक्त है—(1) ब्राह्मण, (2) क्षत्रिय, (3) वैश्य, और (4) शूद्र। दूसरे, ये चारों वर्ण आपसी तौर पर एक दूसरे से क्रमिक असमानता के रिश्ते से जुड़े हुए हैं। ब्राह्मण सर्वोपरि हैं। क्षत्रिय्र ब्राह्मणों के नीचे, किन्तु वैश्यों और शूद्रों के ऊपर। वैश्य ब्राह्मणों और क्षत्रियों के नीचे, किन्तु शूद्रों से ऊपर। और शूद्र? सबसे नीचे। तीसरे चारों वर्णों के धन्धे सुनिश्चित हैं। ब्राह्मणों का धन्धा है ज्ञानार्जन करना और दूसरों को सिखाना-पढ़ाना। क्षत्रियों का धन्धा है युद्ध करना। वैश्यों का व्यापार करना और शूद्रों का अपने उपर के तीनों वर्णों की कमीनों की तरह सेवा-सुश्रूषा करना। इसे हिन्दुओं ने वर्ण-व्यवस्था का नाम दिया है। यह हिन्दू धर्म की आत्मा ही है। वर्ण-व्यवस्था के अतिरिक्त हिन्दू-धर्म में ऐसी और कोई भी बात नहीं, जिससे हिन्दुओं की पहचान हो सके। क्योंकि यह ऐसा ही है, इसलिए यह योग्य ही है कि वर्ण-व्यवस्था के मूल की जांच-पड़ताल की जाए।

इसकी तह तक जाने के लिए हमें यह देखना होगा कि इसके बारे में प्राचीन हिन्दू-साहित्य का क्या कुछ कहना है।

(1)

यह अच्छा होगा कि हम पहले एक ही जगह उन कथनों का संग्रह करें जो वर्ण-व्यवस्था के संबंध में वेदों में विद्यमान हैं।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल में नब्बेवें मन्त्र में इसकी चर्चा है। लिखा है—

"पुरुष के हजार सिर हैं, हजार आंखें हैं, और हजार पांव हैं। चारों ओर से पृथ्वी को ढकते हुए अपनी दस अंगुलियों से उसने उसे नाप लिया है। स्वयं पुरुष ही, यह समस्त विश्व है। जो हुआ है और जो होगा। वह अमृतत्त्व का भी स्वामी है क्योंकि उसका विस्तार भोजन के माध्यम से होता है। वह ऐसा महान है और पुरुष उसकी महानता को भी लांघ

गया है। जितने भी विश्व हैं, वे इसकी निवास-भूमियां हैं और उसका तीन चौथाई हिस्सा आकाश में नित्यस्वरूप विद्यमान है। अपने तीन चौथाई हिस्से को लेकर पुरुष ऊपर की ओर बढ़ा। उसका एक चौथाई हिस्सा फिर भी यहीं रह गया। तब वह यहीं पसर गया, जो चीजें खाने वाली थीं उन पर भी और जो चीजें खाने वाली न थीं, उन पर भी। उससे विरज की उत्पत्ति हुई और विरज से पुरुष की। जब जन्म ग्रहण किया, वह पृथ्वी की सीमा से भी आगे बढ़ा, पीछे की ओर भी और आगे की ओर भी। जब देवताओं ने पुरुष को आहुति मानकर यज्ञ किया, तो वसन्त ऋतु इसका मक्खन था, ग्रीष्म ऋतु समिधा और पतझड़ ऋतु इसकी हवन की सामग्री थी। (7) यह जो बलि का बकरा पुरुष था, वह आरंभ में जन्मा। बाद में उन्होंने बलिदेवी की घास पर उसकी बलि चढ़ा दी। उसके साथ देवतागण, साध्य और ऋषिगण भी बलिदान हुए। (8) उस सर्वव्यापक यज्ञ से ही दही और मक्खन उत्पन्न हुए। उसी से वे हवाई प्राणी और जंगली तथा पालतू जानवर पैदा हुए। उस व्यापक यज्ञ से ही ऋग् की ऋचाओं, साम के मन्त्रों, छन्दों और यजुर्वेद ने जन्म ग्रहण किया। इसी से सभी घोड़े पैदा हुए, दांतों की दो पंक्तियों वाले सभी जानवर पैदा हुए, गौवें पैदा हुईं। उसी से बकरियां तथा भेड़ें। जब देवताओं ने पुरुष का विभाजन किया तो उसके काटकर कितने-कितने टुकड़े किए? उसका मुंह क्या था? उसके बाजू क्या थे? उसकी जांघें और पांव, उसके कौन से दो पदार्थ थे? ब्राह्मण उसके मुंह थे। राजन्य (क्षत्रियों) को उसके हाथ बनाया गया, वैश्य नाम का प्राणी उसकी जांघें बना और उसके पांव में से शूद्र उत्पन्न हुआ। (13) उसके मानस ने चन्द्रमा को जन्म दिया। उसकी आंखों ने सूर्य को, इन्द्र और अग्नि ने उसके मुंह से जन्म ग्रहण किया और वायु ने उसकी सांस से। उसकी नाभि में से वायु उत्पन्न हुई, उसके सिर में से आकाश, उसके पांव में से पृथ्वी उत्पन्न हुई। उसके कानों से चारों दिशाएं, इस प्रकार देवताओं ने लोकों का निर्माण किया। (15) जब देवताओं ने यज्ञ करने के समय पुरुष को बलि बनाकर उसे रस्सी से बांधा, उस समय अग्नि के गिर्द सात लकड़ियां गाड़ी गईं। और समिधाओं की सात-सात गड्डियां तीन बार बनाई गईं। यज्ञ से देवताओं ने यज्ञ किया। ये ही सर्वप्रथम किए गए संस्कार थे। इन महान् शक्तियों ने आकाश में इस बात की खोज की है कि पूर्व के सिद्ध तथा देवता-गण कहां हैं?''

यह सूक्त सामान्यतः पुरुष-सूक्त कहलाता है। यह मान लिया गया है कि यही वर्ण की उत्पत्ति को लेकर साम्प्रदायिक सिद्धान्त का कहां तक समर्थन करते हैं।

सामवेद ने इस पुरुष-सूक्त का अपने अन्दर समावेश नहीं किया है। उसने वर्णों की उत्पत्ति की कोई दूसरी व्याख्या भी नहीं की है।

यजुर्वेद की दो शाखाएं—(1) शुक्ल यजुर्वेद, तथा (2) कृष्ण यजुर्वेद। कृष्ण यजुर्वेद की तीन शाखाएं—तीन मंत्र संग्रह स्वीकार किए गए हैं,

(1) कथक संहिता (2) मैत्रयानी संहिता (3) तैत्तिरीय संहिता।

शुक्ल यजुर्वेद की एक ही शाखा है, जो वाजस्नेय संहिता कहलाती है।

कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रियानी संहिता और कथक संहिता में भी ऋग् वेद के इस पुरुष सूक्त का कोई उल्लेख नहीं है। इनमें वर्ण के मूल को लेकर कोई दूसरी व्याख्या भी नहीं है।

केवल कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में जो दो व्याख्याएं दी गई हैं, उन दोनों के बारे में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो यही कि दोनों व्याख्याओं का आपस में तनिक भी मेल नहीं है। वे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। दूसरी यह कि उनमें से एक व्याख्या का शुक्ल यजुर्वेद की वाजस्नेय शाखा में दी गई व्याख्या से संपूर्ण मेल है। तैत्तिरीय संहिता में जो व्याख्या दी गई है, वह स्वतंत्र परम्परा है। वह मत इस प्रकार है–

"वह (व्रात्य) काम-वासना से उत्तेजित हो उठा। उसी से राजन्य की उत्पत्ति हुई।"

"जो व्रात्य इसे जानता है, उसे राजा के यहां अतिथि के रूप में आने दो और एक ज्येष्ठ की तरह उसका आदर-सत्कार होने दो। ऐसा करने से वह न राजा के राज्य को कोई आघात पहुंचायेगा और न उसके पद को। उससे ब्राह्मण और क्षत्रिय की उत्पत्ति हुई। उन्होंने कहा, "हम किसमें प्रवेश करें।"

वाजस्नेय संहिता में जो व्याख्या दी गई है और जो तैत्तिरीय संहिता में दी गई व्याख्या से मेल खाती है, वह इस प्रकार है–

"उसने एक की स्तुति की। प्राणियों ने जन्म ग्रहण किया। प्रजापति शासक था। उसने तीन की स्तुति की, ब्रह्म उत्पन्न हुआ। ब्रह्मनस्पति शासक था। उसने पांच की स्तुति की। विद्यमान वस्तुएं उत्पन्न हुईं। ब्रह्मनस्पति शासक था। उसने सात की स्तुति की। सप्त ऋषि उत्पन्न हुए। धातृ शासक था। उसने नौ की स्तुति की। पितृ-गण उत्पन्न हुए। अदिति शासक था। उसने ग्यारह की स्तुति की। ऋतुएं उत्पन्न हुई। अतर्वस शासक थे। उन्होंने तेरह की स्तुति की। महीने उत्पन्न हुए। वर्ष शासक था। उसने पन्द्रह की स्तुति की। क्षत्रिय उत्पन्न हुआ। इन्द्र शासक था। उसने सत्रह की स्तुति की। पशु उत्पन्न हुए। बृहस्पति शासक था। उसने उन्नीस की स्तुति की। शूद्र और आर्य (वैश्व) उत्पन्न हुए। रात और दिन शासक थे। उसने इक्कीस की स्तुति की। जिनके खुर फटे नहीं थे, ऐसे पशु उत्पन्न हुए। वरुण शासक था। उसने तेईस की स्तुति की। छोटे-छोटे पशु उत्पन्न हुए। पुशान शासक था। उसने पच्चीस की स्तुति की। जंगली जानवर उत्पन्न हुए। वायु शासक था। उसने सत्ताईस की स्तुति की। आकाश और पृथ्वी पृथक-पृथक हो गए। इसके बाद वसु, रुद्र और आदित्य पृथक-पृथक हो गए। ये ही शासक थे। उसने उन्तीस की स्तुति की। वृक्ष उत्पन्न हुए। सोम शासक था। उसने इकत्तीस की स्तुति की। प्राणी उत्पन्न हुए। शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष शासक थे। उन्होंने इकतीस की स्तुति की। विद्यमान वस्तुएं स्थिर हो गईं। प्रजापति परमेष्ठी शासक था।"

यहां यह बात ध्यान देने लायक है कि इतना ही नहीं कि ऋग-वेद और यजुर्वेद में किसी भी प्रकार का ताल-मेल नहीं है। लेकिन चारों वर्णों के मूल जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर यजुर्वेद की दोनों संहिताएं भी एक मत नहीं हैं।

अब हम जरा अथर्ववेद को लें। अथर्ववेद में दो व्याख्याएं हैं। इसने अपने में पुरुष

सूक्त का समावेश कर लेने से संतुष्ट नहीं है। यह कुछ दूसरी व्याख्याएं भी उपस्थित करता है। एक व्याख्या इस प्रकार है–

''ब्राह्मण सर्वप्रथम पैदा हुआ। उसके दस सिर थे और दस चेहरे थे। उसने पहले पहल सोमरस का पान किया। उसने विष को निर्विष बना दिया।

''देवतागण क्षत्रिय से उसी समय भयभीत हो गए जब वह गर्भ में था। उन्होंने जब वह गर्भ में था, उसे तभी रस्सियों से बांध दिया। इसीलिए वह राजन्य बंधी हुई अवस्था में जन्म ग्रहण करता है। यदि मुक्त अवस्था में जन्म ग्रहण करता तो वह अपने शत्रुओं का वध करता चलता। हर राजन्य को लेकर यदि कोई यह इच्छा करता है कि उसे मुक्त अवस्था में ही जन्म ग्रहण करना चाहिए ताकि वह अपने शत्रुओं का वध करता चले, तो उसके लिए उसे ऐन्द्र-बृहस्पति पूजा करनी चाहिए। जो कोई किसी राजन्य को बंधन-मुक्त करता है तो वह ब्राह्मण के माध्यम से ही ऐसा करता है। सुनहरी-बंधन-दान उसे बंधन-मुक्त कर देता है।''

जो दूसरी व्याख्या है वह मनु के माध्यम से ऊपर से नीचे आने की है। यदि हम विद्यमान स्थिति पर थोड़ा रुककर विचार करें तो हम देखेंगे कि वर्ण-धर्म के मूल के बारे में वेदों में कहीं भी, कोई भी सहमति नहीं है। कोई भी दूसरा वेद ऋग् वेद की इस बात को मान्यता प्रदान नहीं करता कि ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्मा के मुंह से हुआ था, क्षत्रियों का जन्म ब्रह्मा के बाजुओं से हुआ, वैश्यों का जन्म ब्रह्मा की जांघों से हुआ और शूद्रों का जन्म हुआ ब्रह्मा के पैरों से।

(2)

अब हम ब्राह्मण-ग्रन्थों की ओर मुडें और देखें कि इस विषय में उनका क्या कथन है?

शतपथ-ब्राह्मण में दी हुई व्याख्या इस प्रकार है–

''भू शब्द का उच्चारण कर प्रजापति ने इस पृथ्वी को जन्म दिया। 'भुवः' का उच्चारण कर उसने वायु को उत्पन्न किया। 'स्वः' का उच्चारण कर उसने आकाश को उत्पन्न किया। यह विश्व उन लोकों के साथ सहोत्पन्न है। अग्नि समग्र के साथ है। भू का उच्चारण कर ब्रह्मा ने ब्राह्मण को उत्पन्न किया। भुवः का उच्चारण कर क्षत्रिय को। स्वः का उच्चारण कर वैश्य को। अग्नि समग्र के साथ है। 'भू' कहकर प्रजापति ने अपने आपको उत्पन्न किया, भुवः कहकर सन्तति को जन्म दिया। स्वः कहकर पशुओं को जन्म दिया। यह संसार अपना आप है, सन्तति है और पशु हैं। अग्नि समग्र के साथ है।''

शतपथ ब्राह्मण में ही एक दूसरी व्याख्या भी दी गई है। यह इस प्रकार है–

''ब्रह्मा (भाष्यकार के मत में ब्राह्मण का प्रतिनिधि) ही पहले यह अकेला विश्व था। एक ही होने से इसका विकास नहीं हुआ। उसने उत्साह में आकर एक श्रेष्ठ वर्ण को जन्म दिया, क्षत्र। देवताओं में जिनके पास शक्ति है उन्हें जैसे इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र,

पर्जन्य, यम, मृत्यु तथा ईषाण। इसलिए क्षत्र से ऊपर कुछ नहीं है, इसीलिए राजसूय यज्ञ के समय ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठता है। वह यह गौरव क्षत्रिय को देता है। इस प्रकार ब्राह्मण ही क्षत्रिय की शक्ति का मूल स्रोत है। इसलिए यद्यपि क्षत्रिय उच्चतम पद प्राप्त करता है, लेकिन अन्त में वह उसे ब्राह्मण को वापिस लौटा देता है। जो कोई ब्राह्मण का नाश करता है, वह अपने ही मूल का नाश करता है। वह अत्यन्त दुखी होता है, उसकी तरह जिसने अपने बड़े को नष्ट किया हो। उसका विकास नहीं हुआ। उसने वैश्यों को उत्पन्न किया, देवताओं के उस वर्ण को जिनका प्रतिनिधि वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वदेव और मारुत करते हैं। तब भी विकास नहीं हुआ। उसने शूद्र वर्ण को जन्म दिया, प्रशान! यह पृथ्वी प्रशान है क्योंकि जो कुछ भी है, यह उस सभी का पोषण करती है। तब भी विकास नहीं हुआ। उसने उत्साहपूर्वक एक श्रेष्ठ धर्म को जन्म दिया—न्याय को। यह न्याय शासकों का भी शासक है। इसलिए न्याय से बढ़कर कुछ नहीं है। इसलिए जो कमजोर होता है वह भी न्याय के द्वारा ताकतवर को हटाने का प्रयास करता है। न्याय ही सत्य है। इसीलिए जो आदमी 'न्याय' की बात करता है, उसके बारे में कहा जाता है कि वह 'सत्य' बोलता है। जो आदमी सत्य बोलता है, उसके बारे में कहा जाता है कि वह न्याय की बात कहता है। क्योंकि यह श्रेष्ठ धर्म 'न्याय' तथा 'सत्य' दोनों हैं। वही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र है। अग्नि के माध्यम मानवी से यह देवताओं में ब्रह्म और मनुष्यों में ब्राह्मण हो जाता है, दैवी क्षत्रिय के माध्यम से मानवी क्षत्रिय, दैवी वैश्य के माध्यम से एक मानवी वैश्य और दैवी शूद्र के माध्यम से एक मानवी 'शूद्र' इसलिए देवताओं में वह अग्नि को अपना शस्त्रस्थान बनाते हैं और आदमियों में ब्राह्मण को।''

तैत्तरीय ब्राह्मण-ग्रन्थ तीन समाधान उपस्थिति करते हैं।

पहला है, ''यह सारा विश्व ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किया गया है। लोग कहते हैं कि वैश्य वर्ग ऋग्-वेद की ऋचाओं से उत्पन्न हुआ है। उनका कहना है कि यजुर्वेद रूपी गर्भ ने क्षत्रिय को जन्म दिया है। ब्राह्मणों का जन्म साम-वेद से हुआ। प्राचीनों ने प्राचीनों को यह जानकारी दी है।''

दूसरा है, ''ब्राह्मण वर्ग देवताओं से उत्पन्न हुआ है, शूद्र वर्ग असुरों से।''

तीसरा है, ''उसे लकड़ी की एक तश्तरी से दूध निकालना चाहिए। लेकिन शूद्र को दूध नहीं निकालना चाहिए। क्योंकि शूद्र अभाव में से उत्पन्न हुआ है। उनका कहना है कि शूद्र जिस दूध को दुहता है, वह पूजा के काम नहीं आ सकता। शूद्र को अग्निहोत्र के लिए दुहना नहीं चाहिए। क्योंकि वे उसे शुद्ध नहीं करते। जब दूध छाना जाता है तभी वह पूजा के लिए योग्य होता है।''

अब हम देखें कि पुरुष-सूक्त का समर्थन ब्राह्मण-ग्रन्थ करते हैं या नहीं? एक भी ब्राह्मण-ग्रन्थ समर्थन नहीं करता।

(3)

अगली बात जो विचारणीय है, वह यह है कि क्या स्मृतियों को भी चारों वर्णों के मूल के बारे में कुछ कहना है। यह जानकारी अत्यन्त मूल्यवान है। मनु का मत नीचे दिया जा रहा है—

"उस स्वयंभू की इच्छा हुई कि वह अपने ही शरीर से नाना प्रकार के प्राणियों को उत्पन्न करे, तो उसने सर्वप्रथम जलों को उत्पन्न किया। फिर उनमें बीज डाल दिया। वह बीज एक सुनहरा अण्डा बन गया, सूर्य के समान ज्योति वाला। इसी अण्डे से वह स्वयं उत्पन्न हुआ था, ब्रह्मस्वरूप, सारे लोकों का जनक। बानियों को नरः कहा जाता है, क्योंकि उनकी उत्पत्ति नर से होती है। और क्योंकि यही उसकी प्रथम हलचल थी, इसीलिए वह नारायण कहलाता है। क्योंकि उसकी उत्पत्ति इन्द्रियातीत नित्य पदार्थ से हुई, जिसे भावरूप तथा अभाव रूप दोनों कहा जाता है, पुरुषत्व को दुनियाभर में ब्रह्म करके पूजा जाता है। एक पर्व तक उसी अण्डे के भीतर निवास करते रहकर उस दिव्य-पुरुष ने अपने ही योगबल से उस अण्डे के दो टुकड़े कर डाले।

"लोकों में लोग रहने लगें, इस कामना से उसने अपने मुंह से ब्राह्मणों को, बाजुओं से क्षत्रियों को, जांघों से वैश्यों को और पांव से शूद्रों को उत्पन्न किया। अपने शरीर को ही दो भागों में विभक्त कर चुकने के अनन्तर ब्रह्मा अपने आधे से पुरुष बन गया और दूसरे आधे हिस्से से स्त्री। उस स्त्री में उसने विरज उत्पन्न कर दिया। 'हे अति श्रेष्ठ द्विजन्मा लोगो! मैं ही सभी लोगों का जनक हूं। जीवित प्राणियों को उत्पन्न करने के इरादे से मैंने घोर तपस्या की और सर्वप्रथम दस महर्षियों को पैदा किया। उनके नाम हैं मरीचि, अत्रि, अंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, पचेतस, वशिष्ठ, भृगु तथा नारद। अप्रमाण शक्ति संपन्न उन महर्षियों ने दूसरे सात मनु उत्पन्न किए, देव लोक उत्पन्न किए और असीम शक्तिशाली महर्षि उत्पन्न किए। उन्होंने ही यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सराएं, असुर, नाग, सर्प, बड़े-बड़े पक्षी और भिन्न-भिन्न प्रकार के पितर उत्पन्न किए। मैंने ही बिजलियों को, गरजने वाले और दूसरे बादलों को उत्पन्न किया....इस प्रकार मेरे द्वारा नियुक्त और मेरे प्रति श्रद्धा भी होने के कारण उन महान प्राणियों ने उनके पूर्व जन्मों के कर्मों के अनुसार स्थिर-जंगम संसार की रचना की।"

मनुस्मृति में ही मनु ने एक दूसरे दृष्टिकोण का उल्लेख किया है जिसके अनुसार लोग चार वर्णों में विभक्त किए गये–

"मैं अब संक्षेप से उन स्थितियों का वर्णन करूंगा, जिन्हें भिन्न-भिन्न गुणों के अनुसार आत्मा प्राप्त करती है। सत्त्व-गुण प्रधान आत्माएं देवत्व प्राप्त करती हैं, जिनमें रजोगुण होता है, वे मनुष्य का जन्म ग्रहण करती हैं, और जो तमस गुण प्रधान हैं वे पशु योनि में उत्पन्न होते हैं–यही त्रिविध अंत हैं।...हाथी, घोड़े, शूद्र और घृणित म्लेच्छ, शेर, चीते और सुअर मध्य कृष्ण-वर्ण स्थिति हैं...। राजा, क्षत्रिय, पुरोहित और ऐसे लोग जिनका धन्धा ही शब्द-युद्ध मात्र है बीच की कामना-प्रधान स्थिति की अभिव्यक्ति करते हैं।...भक्त जन, तपस्वी, ब्राह्मण, विमानों पर उड़ने वाले देवतागण तथा दैत्य ज्योति-पुञ्ज, वर्ष, पितृ-समूह, तथा साध्य श्रेष्ठता की दूसरे दर्जे की स्थिति है,...ब्रह्म...जनक...धर्म-महत् तथा अव्यक्त श्रेष्ठता की सर्वोच्च स्थिति के द्योतक हैं।"

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि मनु ऋगवेद का समर्थन करता है। लेकिन

तुलना की दृष्टि से उसके मत का विशेष मूल्य नहीं। मनु का मत मौलिक नहीं है। वह तो केवल ऋग् वेद की तोता-रटन्त है।

(4)

इन मान्यताओं के साथ उस दृष्टिकोण की तुलना करना लाभप्रद होगा जो हमें रामायण और महाभारत में दृष्टिगोचर होता है।

रामायण का कहना है कि दक्ष की पुत्री और कश्यप की पत्नी मनु ने चारों वर्णों को जन्म दिया।

"सुनो, मैं तुम्हें आरंभ से ही सभी प्रजापतियों के बारे में बताता हूं। पहला था कर्दम, तब वोकृत, शेष संस्त्रय, उत्साही बहुपुत्र, स्थनु, मरीचि, अत्रि, शक्तिशाली क्रतु, पुलस्त्य, अंगिरस, प्रचेतुस, पुलह, दक्ष, विवश्वत, अरिष्टनेमि और अन्तिम कश्यप। प्रजापति दक्ष के बारे में प्रसिद्ध है कि उसको साठ पुत्रियां थीं। उनमें से कश्यप ने आठ सुन्दरियों से विवाह कर लिया। उन आठ सुन्दरियों के नाम थे अदिति, दिति, दनु, कलक, तम्र, क्रोधवसा, मनु तथा अनला। प्रसन्नचित्त कश्यप ने तब इन सुंदरियों को कहा—तुम्हें मेरे जैसे पुत्रों को जन्म देना होगा, तीनों लोकों के संरक्षक। अदिति, दिति, दनु तथा कलक ने स्वीकार किया। लेकिन दूसरी सुंदरियां सहमत नहीं हुईं। अकेली अदिति ने आदित्यों, वसुओं, रुद्रों तथा दो आश्विनों कुल मिलाकर तैतीस देवताओं को जन्म दिया। कश्यप की पत्नी मनु ने आदमियों को जन्म दिया—ब्राह्मणों को, क्षत्रियों को, वैश्यों को और शूद्रों को पांव से।" यह वेदों का कथन है। अनुला ने मधुर फलों से लदे हुए वृक्षों को जन्म दिया।

सचमुच यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि वाल्मीकि कहे कि चारों वर्ण कश्यप से उत्पन्न हुए थे और प्रजापति को भूल जाए! उसे केवल सुनी सुनाई परंपरा की जानकारी थी। यह स्पष्ट ही है कि वाल्मीकि यह नहीं जानता था कि इस विषय में वेदों ने क्या कहा है?

अब महाभारत को लें। वहां चार भिन्न स्थलों पर चार भिन्न-भिन्न व्याख्याएं हैं। पहला समाधान इस प्रकार है।

प्रचेतस के दस पुत्रों से दक्ष प्रचेतस की उत्पत्ति हुई। और विश्व के पिता दक्ष से ये प्राणी उत्पन्न हुए। वादिनी के संसर्ग के फलस्वरूप मुनि दक्ष को एक हजार पुत्र-रत्नों की प्राप्ति हुई। वे अपनी धार्मिकता के लिए प्रसिद्ध थे। उन्हें नारद ने अंतिम मुक्ति का सिद्धांत और सांख्य-मत सिखाया था। संतानोत्पत्ति की इच्छा से प्रजापति दक्ष ने पचास कन्याओं की व्यवस्था की, जिनमें से दस कन्याएं उसने धर्म को दीं, तेरह कश्यप को दीं। और समय-पालन के लिए प्रसिद्ध 27 कन्याएं इंदु (सोम) को सौंपी। मरीचि-पुत्र कश्यप ने अपनी तेरह श्रेष्ठ पत्नियों से आदित्यों को जन्म दिया। इनका प्रमुख था इन्द्र और ये

अपने उत्साह के लिए प्रसिद्ध थे। उसने विवस्वत को भी जन्म दिया। विवस्वत को एक शक्तिशाली पुत्र हुआ। यम विवस्वत। मार्तण्ड (= सूर्य) ने बुद्धिमान और शक्ति संपन्न मनु को जन्म दिया। उसने मनु के छोटे भाई यम को भी जन्म दिया। यह मनु धार्मिक था, जिसके नाम पर मानव-जाति का नाम मनुष्य-समाज पड़ा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा दूसरे लोग मनु से उत्पन्न हुए। हे राजन! इसी से ब्राह्मणों के साथ क्षत्रिय भी प्रकट हुए।''

यहां जो कथा दी गयी है, वह बहुत कुछ वही है जो रामायण में विद्यमान है। इतना अन्तर है कि महाभारत के अनुसार चारों वर्ण मनु से उत्पन्न हुए हैं और दूसरे महाभारत ने यह कहीं नहीं कहा है कि ब्राह्ण, क्षत्रिय आदि चारों वर्ण ब्रह्मा के शरीर के भिन्न-भिन्न भागों से उत्पन्न हुए हैं।

महाभारत में दी गई दूसरी व्याख्या पुरुष सूक्त में दिए गए ब्योरे का अनुकरण करती है–

''पुररवास ने कहा–'तुम्हें मुझे यह स्पष्ट करना चाहिए कि ब्राह्मण कैसे उत्पन्न हुए और शेष तीन वर्ण कैसे उत्पन्न हुए और प्रथम वर्ण की श्रेष्ठता कैसे स्थापित हुई?' मातृस्वान ने समझाया, 'ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुंह से हुई है, क्षत्रिय की बाजुओं से, वैश्य उसकी जांघ से और इन तीनों वर्णों की सेवा करने के लिए ब्रह्मा के पांव से शूद्रों की निर्मिति हुई। ब्राह्मण पैदा होते ही पृथ्वी पर जितने भी प्राणी होते हैं, उनका स्वामी बन जाता है। धर्म का संरक्षण करना उसका कार्य होता है। इसके बाद विधाता ने पृथ्वी के नियामक क्षत्रिय की रचना की, एक दूसरे यमराज की भांति वे दण्ड धारण किए रहे, और ब्रह्मा की आज्ञा थी कि वैश्य शेष तीनों वर्णों को धन-धान्य पहुंचाता रहे और शूद्र का काम था, तीनों वर्णों की सेवा करना।' तब इला के पुत्र ने प्रश्न किया–

''वायु! मुझे बताओ कि अपनी सम्पत्ति सहित यह पृथ्वी किसकी मिल्कीयत है, ब्राह्मण की या क्षत्रिय की?'' वायु ने उत्तर दिया, ''जो कुछ भी दुनिया में है, सभी कुछ ब्राह्मण का ही है, क्योंकि वह प्रथमोत्पन्न है। जो लोग कर्तव्य के पण्डित हैं, उन्हें इसकी जानकारी है। जो कुछ ब्राह्मण खाता है, पहनता है या दूसरों को देता है, वह सब कुछ उसी का होता है। वह वर्णों में प्रमुख होता है, प्रथमोत्पन्न, सर्वश्रेष्ठ। जैसे कोई स्त्री जब उसका पति नहीं रहता, अपने पति के भाई को अपना पति बना लेती है, ठीक इसी प्रकार ब्राह्मण पहला स्वामी होता है। इसके अनन्तर कोई दूसरा हो सकता है।''

महाभारत के ही शान्ति-पर्व में तीसरा दृष्टिकोण विद्यमान है।

''भृगु ने उत्तर दिया, 'इस प्रकार पहले ब्रह्मा ने प्रजापतियों की रचना की। उनमें उनकी अपनी रचना का प्रवेश था। तेजस्विता में वे अग्नि और सूर्य के समान थे। तब भगवान् ने सत्य, धार्मिकता, तप और नित्य वेदों के ज्ञान का निर्माण किया ताकि स्वर्ग लाभ हो सके। उसने देवताओं की भी रचना की, दानवों की, गन्धर्वों की, दैत्यों की, असुरों की, महोरगों की, यक्षों की, राक्षसों की, नागों की, पिशाचों की और आदमियों की। उन्होंने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों तथा दूसरे-दूसरे वर्णों की भी रचना की। ब्राह्मणों का वर्ण

श्वेत था, क्षत्रियों का लाल था, वैश्यों का पीला था और शूद्रों का काला था। भारद्वाज ने आपत्ति की, ''यदि चारों वर्णों की पहचान उनके रंग से होती है, तब सभी वर्णों में गड़बड़ी देखी जाएगी। इच्छा, क्रोध, भय, कामुकता, पश्चात्ताप, डर, भूख तथा थकावट हम सभी पर हावी होती हैं। तब वर्ण की क्या पहचान है? पसीना, पेशाब, पाखाना, कफ, पित्त और रक्त सभी में समान हैं। तब वर्ण की क्या पहचान है? चल और अचल नाना पदार्थ हैं। तब वर्ण की क्या पहचान है?'' भृगु का उत्तर है, ''वर्ण-वर्ण में कोई भेद नहीं।'' चौथी व्याख्या भी शान्ति पर्व में ही दी गई है—''भृगु पूछता है—हे वाकपटु ऋषि! मुझे बताइए कि वे कौन से गुण हैं, जिनके होने से कोई आदमी ब्राह्मण होता है, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य और कोई शूद्र?' भृगु का उत्तर है, ''जो पवित्र है, जिसके जनमजात संस्कार हुए हैं, जिसने वेदों का पूरी तरह अध्ययन किया है, छह प्रकार के संस्कारों से अभिसंस्कृत है, पवित्रता के संस्कारों का पालन करता है, जो यज्ञ-शेष आहार ही ग्रहण करता है, जो अपने उपाध्याय के निकट रहता है, जा अपने धार्मिक कर्तव्यों का नियमपूर्वक पालन करता है और जो सत्य का आग्रह रखता है, वह ब्राह्मण कहलाता है। जिसमें सत्य है, उदारता है, अनाक्रामक मान है, अहिंसा है, विनम्रता है, करुणा है, और घोर तप है, ऐसा आदमी ब्राह्मण कहलाता है। जो राज्य-दरबार के कर्तव्यों को करता है, जो वेदों के अध्ययन में रत है, जो दान लेने और देने से आनन्दित होता है, वह आदमी क्षत्रिय कहलाता है। जो पशुओं के लेन-देन से सरोकार रखता है, जो खेती और सम्पत्ति का मालिक है, जो पवित्र है और जिसने वेदों का पूरा अध्ययन किया है, ऐसा आदमी वैश्य कहलाता है। जो किसी भी तरह का कुछ भी खा पी लेता है, हर तरह का काम करने के लिए तैयार रहता है, जो साफ नहीं रहता, जिसने वेदों को त्याग दिया है और जो पवित्र संस्कार नहीं करता है, ऐसा आदमी शूद्र कहलाता है। मैंने यह जो कुछ कहा है, यह सब शूद्र के लक्षण नहीं हैं। जो शूद्र है वह शूद्र ही रहे, लेकिन ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं रहेगा।

एक ही स्थल ऐसा है जहां महाभारत ने ऋग्-वैदिक परम्परा का समर्थन किया है, अन्यथा कहीं भी कुछ भी समर्थन नहीं है।

(5)

अब हम देखें कि वर्ण-व्यवस्था के मूल के बारे में पुराणों का क्या कहना है? हम विष्णु पुराण से ही आरंभ करें। चातुर्वर्ण्य के मूल के बारे में विष्णु पुराण में तीन सिद्धान्त वर्णित हैं। एक सिद्धान्त के अनुसार मनु से ही चातुर्वर्ण्य का आरंभ हुआ है। विष्णु पुराण में लिखा है—

उस लौकिक अण्डे की उत्पत्ति से भी पहले से देवी ब्रह्म हिरण्यगर्भ का अस्तित्व था, जो कि सभी लोकों का नित्य जनक है, जो ब्रह्म के अस्तित्व का सार स्वरूप था, जिसके अन्तर्गत देवी विष्णु का समावेश है, और जो ऋग्, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का पर्याय है। ब्रह्मा के दाहिने अंगूठे से प्रजापति दक्ष ने जन्म ग्रहण किया। दक्ष की अदिति

नाम की एक कन्या थी। उसने विवस्वत को जन्म दिया। उससे मनु पैदा हुआ। मनु की सन्तानों के नाम थे–इक्ष्वाकु, नृग, धृष्ट, सर्यति, नीरशन्त, प्रसुं, नभग नेदिशता, करुष तथा परिशध्र। करुष से करुष, महान शक्तिशाली क्षत्रिय उत्पन्न हुए। नेदिशता का पुत्र नभाग वैश्य बन गया!''

यह व्याख्या अधूरी है। यह केवल क्षत्रियों और वैश्यों की उत्पत्ति की कहानी है। यह ब्राह्मणों और शूद्रों के मूल की बात कहती ही नहीं। विष्णु पुराण मं एक दूसरा और भिन्न वर्णन है। उसमें लिखा है–

'पुत्र की कामना से मनु ने मित्र और वरुण का यज्ञ किया, लेकिन किसी होत्री के गलत आह्वान के फलस्वरूप इला नाम की एक कन्या पैदा हो गई। तब मित्र और वरुण की कृपा के फलस्वरूप उसे मनु से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सुद्युम्न था। महादेव के गुस्से के फलस्वरूप वह पुनः स्त्री बन गया। अब वह सोम के पुत्र बुध के आश्रम के आसपास विचरने लगी। वह उस पर आसक्त हो गया और उसे पुरूवास नाम का पुत्र हुआ। उसके जन्म के बाद जो देवता ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का यज्ञ किए जाने से उत्पन्न हुआ था, सभी चीजों के यज्ञ से, मानस के यज्ञ से, अकिञ्चनता के यज्ञ से उत्पन्न हुआ था, जो याज्ञिक पुरुष की शक्ल में विद्यमान था, अनन्त प्रकाशयुक्त ऋषियों द्वारा पूजित हुआ। उनकी इच्छा थी कि सुद्युम्न को पुनः उसका पुरुष का रूप प्राप्त हो जाए। इसके प्रताप से इला नाम का देवता फिर सुद्युम्न बन गया।

विष्णु पुराण के अनुसार अत्रि ब्रह्मा का पुत्र था ओर सोम का पिता था। ब्रह्म ने उसे पौधों, ब्राह्मणों और तारों के मालिक के पद पर प्रतिष्ठित किया था। राजसूय यज्ञ हो चुकने पर सोम अहंकार के कारण मदमस्त हो गया और देवताओं के गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा को ले भागा। ब्रह्मा ने, देवताओं ने, ऋषियों ने उसे बहुत कहा-सुना, लेकिन वह तारा को लौटाने के लिए राजी नहीं हुआ। सोम का पक्ष उष्शास ने लिया और जिस रुद्र ने अंगिरस के पास विध्याध्ययन किया था, उसने बृहस्पति का पक्ष लिया। दोनों पक्षों में भयानक संघर्ष हुआ। एक पक्ष में देवता थे, दूसरे मैं दैत्य। ब्रह्मा ने मध्यस्थता की और सोम को मजबूर किया कि वह तारा को उसके पति को सौंप दे। इस बीच वह गर्भिणी हो गई थी और उसे एक पुत्र हुआ था। उसका नाम था बुध। जब जोर डाला गया, उसने सोम को पिता मान लिया। जैसे पहले कहा गया है पुरुरवा इसी बुध और मनु की कन्या इला का पुत्र था।

पुरुरवा के छह बेटे थे। सबसे बड़े का नाम था आयुस। आयुस के पांच बेटे थे, नहुष, क्षत्र-वृद्ध, रम्भ, रजी तथा अनेनस। क्षत्र-वृद्ध का सुहोत्र नाम का पुत्र था। सुहोत्र के तीन पुत्र थे–कस, लेस तथा गृत्समद। अन्तिम ने सौनक को जन्म दिया। इसी सौनक ने चातुर्वर्णी-व्यवस्था को जन्म दिया। कस का काशीराज नाम का पुत्र था। काशीराज का पुत्र दीर्घतमस था। वही धनवन्तरि था।

तीसरे कथन के अनुसार चावतुर्वर्णी व्यवस्था का जनक ब्रह्म था। इसमें लिखा है–

''मैत्रैय्य का कथन थाः 'तुमने मुझे अर्वकश्रोत (मानवों की रचना) बताई। हे ब्रह्मन्!

अब मुझे विस्तार से यह समझाएं कि ब्रह्म ने वर्ण-व्यवस्था की कैसे रचना की है? मुझे यह समझाएं कि किन गुणों को देखकर उसने वर्ण पैदा किए और ब्राह्मण तथा इतर वर्णों के क्या-क्या कर्तव्य होते हैं?' पाराशर ऋषि ने उत्तर दिया—"जब अपनी योजना के अनुसार ब्रह्मा की संसार को जन्म देने की इच्छा बलवती हुई तो जिन प्राणियों में सत्त्व गुण की अधिकता थी वे उसके मुंह से उत्पन्न हुए। दूसरे, जिनमें रजस् गुण की अधिकता थी वे उसकी छाती से पैदा हुए। दूसरे, जिनमें रजस् और तमस दोनों की प्रधानता थी, वे उसकी जांघ से उत्पन्न हुए। शेष को उसने अपने पांव से उत्पन्न किया। उनकी विशेषता थी अंधकार। उन्हीं चारों से चातुर्वर्णी व्यवस्था बनी, ब्राह्मणों से, क्षत्रियों से, वैश्यों से तथा शूद्रों से जो क्रमशः ब्रह्मा के मुंह, छाती, जांघों ओर पांव से उत्पन्न हुए।

यहां विष्णु पुराण ने सांख्य समर्थित ऋगवेद के सिद्धान्त को ही उपस्थिति किया है।

हरिवंश पुराण में भी सिद्धान्त दिए गए हैं। एक के अनुसार चारों वर्णो की उत्पत्ति मनु के किसी आदमी से हुई। विष्णु पुराण की अपेक्षा यह वर्णन सही है। विष्णु पुराण का वर्णन है—

"गृतसमद का पुत्र सनक था। उसी से सौनक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए।"

"वितथ पांच पुत्रों का पिता था—सुहोत्र, सुहोत्री, गय, गर्ग और महान कपिल। सुहोत्र के दो पुत्र थे— महान कसक और गृतसमति राजा। गृतसमति के पुत्र ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य हुए।"

दूसरे वर्णन के अनुसार चार वर्णों की रचना विष्णु ने की, जिसे ब्रह्मा ने उत्पन्न किया और जो प्रजापति दक्ष बन गया था। कथांश इस प्रकार है—"तब ब्रह्मा से उत्पन्न विष्णु इन्द्रियों की अनुभूति से ऊपर उठ गया और ध्यानावस्था में प्रजापति दक्ष बन गया जो विविध प्राणियों का जनक बना। ब्राह्मण, जो सोम के प्रिय थे, अक्षर से निर्मित हुए। क्षत्रिय क्षर से उत्पन्न हुए। वैश्य परिवर्तन से उत्पन्न हुए। शूद्र उत्पन्न हुए धुएं के एक परिवर्तित रूप से। जब विष्णु वर्णो का विचार कर रहा था तब ब्राह्मण सफेद, लाल, पीले और काले रंग से निर्मित हुए। इसलिए संसार के लोग चारों वर्णों में विभक्त हो गए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। उनका रंगरूप तो एक-सा था, किन्तु कर्तव्यों में भेद था। वेदों ने तीनों वर्णो के कर्तव्य निश्चित किए हैं।...शूद्रों की उत्पत्ति अभाव में से हुई और इसलिए उनके लिए कोई संस्कार नहीं हैं, उनके लिए वेद का ज्ञान भी नहीं है। जिस तरह से आग में से उत्पन्न धुआँ इधर-उधर उड़ जाता है, किसी के कुछ काम का नहीं होता, इसी तरह से पृथ्वी पर विचरने वाले यज्ञों की दृष्टि से बिल्कुल बेकार हैं, क्योंकि उनका जन्म नीच कुल में हुआ रहता है, उनका रहन-सहन का ढंग भी ठीक नहीं होता और उनकी जीवन-चर्या भी वेद सम्मत नहीं होती।"

भागवत् पुराण में भी वर्णों की उत्पत्ति के बारे में वर्णन है—

"हजारों वर्षो के बाद इस जीवित आत्मा ने उस निर्जीव अण्डे को जन्म दिया। तब

पुरुष ने उस अण्डे को फोड़ा। उसमें से हजारों जांघें निकलीं, हजारों पांव निकले, हजारों आंखें निकलीं, हजारों चेहरे निकले और हजारों सिर निकले।...ब्राह्मण पुरुष का मुंह था, क्षत्रिय उसके बाजू, वैश्य जांघों से उत्पन्न हुआ, और शूद्र उस दिव्य पुरुष के पांव से उत्पन्न हुआ। पृथ्वी उसके पांव से उत्पन्न हुई, हवा उसकी नाभि से उत्पन्न हुई, स्वर्ग उसके हृदय से उत्पन्न हुआ और उस शक्तिशाली की छाती ने महालोक को जन्म दिया।''

अन्त में वायु पुराण बचा। उसका क्या कथन है? यह मनु को ही वर्ण-व्यवस्था का जनक स्वीकार करता है–

''गृतसमद का पुत्र सुनक था, उससे सौनक उत्पन्न हुए। उसी के परिवार में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए। द्विजन्मा, जिनके कार्य भिन्न-भिन्न थे।''

(6)

क्या अन्धेरगर्दी है। ब्राह्मण-गण वर्ण-धर्म की उत्पत्ति के बारे में एक ही सुनिश्चित, परस्पर मेल खाने वाली बात क्यों नहीं कह सके?

इन वर्णों को किसने उत्पन्न किया, इस विषय में कोई सहमति नहीं। ऋगवेद का कहना है कि प्रजापति ने चारों वर्णों को उत्पन्न किया। वह यह नहीं बताता—किस प्रजापति ने? हम जानना चाहेंगे कि वह कौन-सा प्रजापति था, जिसने चारों वर्णों को उत्पन्न किया। क्योंकि प्रजापति तो बहुत हैं। लेकिन प्रजापति ने ही उन्हें उत्पन्न किया है, इस विषय में भी कोई सहमति नहीं है। एक कथन है कि चारों वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई। दूसरा कथन है कि कश्यप ने उत्पन्न किए। तीसरा कथन है कि मनु ने उत्पन्न किए।

किसी के द्वारा भी रचना हुई हो—वर्ण कितने हैं, इस विषय में भी कोई सहमति नहीं है। ऋग्वेद का कहना है कि चार वर्ण उत्पन्न किये गये थे। लेकिन दूसरी अधिकृत वाणियां हैं कि दो ही वर्ण उत्पन्न हुए थे। कौन से दो? किसी का कहना है ब्राह्मण और क्षत्रिय और किसी का कहना है ब्राह्मण और शूद्र।

और विधाता ने चारों वर्णों को परस्पर बंधा रखने के लिए जो संबंध स्थापित किया, उसका आधार क्या था? ऋग् वेद का कहना है कि उसका आधार क्रमिक असमानता है। उस असमानता का आधार है उस अंग की ऊंची या नीची स्थिति, जिस अंग से वह वर्ण-विशेष उत्पन्न हुआ है। लेकिन शुक्ल यजुर्वेद ऋगवेद के इस सिद्धान्त को अस्वीकार करता है। इसी प्रकार उपनिषद् रामायण और महाभारत भी ऋगवेद के इस मत को अस्वीकार करते हैं। हरिवंश ने तो यहां तक कहा है कि शूद्र द्विजन्मा है।

यह सारी गड़बड़ी इस मिलावट के फलस्वरूप है जो परम्परा के सर्वथा विरुद्ध ब्राह्मणों ने चातुर्ववर्णी व्यवस्था के रूप में चुपके से ऋक-वेद में मिला दी।

आखिर इस सिद्धान्त को रचने का और ऋग्वेद में इसकी मिलावट करने का ब्राह्मणों का क्या उद्देश्य था?

चारों आश्रम क्यों और कैसे?

चारों वर्णों में जो समाज को विभक्तकर रखा है, यह अकेली बात ही हिन्दू-समाज की विचित्रता नहीं है। एक और भी विचित्रता है। लेकिन दोनों में बड़ा फर्क है। वर्ण-धर्म समाज के संगठन का एक सिद्धान्त है, दूसरी ओर आश्रम-धर्म एक व्यक्ति के जीवन को नियम-बद्ध करने का प्रयास है।

आश्रमधर्म व्यक्ति के जीवन का चार अवस्थाओं में विभाजन करता है। (1) ब्रह्मचर्य, (2) गृहस्थाश्रम, (3) वानप्रस्थ, और (4) संन्यास।

ब्रह्मचर्य अवस्था की दोनों स्थितियां हैं : (1) वास्तविक स्थिति, और (2) कानूनी स्थिति। वास्तविक स्थिति से अभिप्राय है अविवाहित जीवन। कानूनी स्थिति से मतलब है कि किसी आचार्य उपाध्याय की देख-रेख में पढ़ाई-लिखाई का जीवन व्यतीत करना। गृहस्थाश्रम का मतलब है एक गृहस्थ का जीवन, विवाहित जीवन। संन्यास में अपने सामाजिक अधिकारों और कर्तव्यों का स्वेच्छा से त्याग कर दिया जाता है। यह एक प्रकार से सामाजिक मरण ही है। वानप्रस्थ, गृहस्थाश्रम और संन्यास के बीच की अवस्था है। यह एक ऐसी अवस्था है जब आदमी का समाज से संबंध बना रहता है, लेकिन आदमी समाज से दूर-दूर रहता है। इसके नाम से ही स्पष्ट है, वन या जंगल में रहना।

हिन्दुओं का विश्वास है कि यह आश्रम-धर्म रूपी संस्था व्यक्ति के जीवन में वैसा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, जैसा वर्ण-धर्म समाज के हित में। वे दोनों संस्थाओं के लिए एक ही शब्द का प्रयोग करते हैं। वह शब्द है वर्णाश्रम-धर्म, मानो यह दोनों एक ही हों और एक दूसरे के पूरक हों। ये दोनों मिलकर हिन्दू-समाज के लोहे के ढांचे का काम करते हैं।

आरंभ करने के लिए यह अच्छा होगा कि आश्रम-धर्म के मूल के बारे में कुछ खोजबीन शुरू करने से पहले हम उसके स्वरूप को अच्छी तरह समझ लें। उसके बाद हम इसके मूल, इसके उद्देश्य और इसकी विचित्रताओं पर दृष्टिपात कर सकते हैं। आश्रम-धर्म को प्रकट करने के लिए सबसे अच्छा साधन है—मनुस्मृति। हम उसी के कुछ उद्धरण यहां नीचे दे रहे हैं।

"जन्म के आठवें वर्ष में ब्राह्मण लड़के का उपनयन होना चाहिए, ग्यारहवें वर्ष में

क्षत्रिय का, और बाहरवें वर्ष में वैश्य का।

"एक द्विज जिसने कभी वेदों का अध्ययन नहीं किया और जो दूसरी दुनियावी विद्याओं का अध्ययन करता है, वह शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है और उसके वंशज शूद्रत्व को प्राप्त हो जाते हैं।

"आचार्य उपाध्याय के साथ रहने की जो वेद की आज्ञा है, उसका पालन 36 वर्ष तक होना चाहिए, यह अट्ठारह वर्ष तक या नौ वर्ष तक या जितने समय में ब्रह्मचारी पूर्ण अभ्यास कर ले।"

"जिसने योग्य विधि से तीन वेदों, दो वेदों या लगातार एक वेद का भी अध्ययन किया है, वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सकता है।

"ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ तथा संन्यास, ये चारों आश्रम हैं और ये चारों गृहस्थाश्रम पर ही निर्भर करते हैं।

"लेकिन ये सभी आश्रम या उनमें से कोई भी एक धर्म के अनुसार व्यतीत किया जाए तो वह ब्राह्मण को ऊंचे-से-ऊंचे स्तर पर पहुंचा देता है।"

"वेदों और स्मृतियों का आदेश है कि गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों से ऊपर है, क्योंकि वह शेष तीनों आश्रमों का आधार है।"

"एक द्विज स्नातक, जो गृहस्थाश्रम में नियमपूर्वक रह चुका है, वह अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुए जंगल में जाकर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत कर सकता है।"

"जब एक गृहस्थ देखे कि उसकी चमड़ी में झुर्रियां पड़ गईं हैं और उसके बाल सफेद हो गए हैं और उसके पुत्रों के पुत्र हो गए हैं तो वह जंगल में जा सकता है।

"अपने जीवन का तीसरा हिस्सा इस प्रकार जंगल में बिताकर, अपने जीवन के चौथे प्रहर में वह संन्यास ग्रहण कर सकता है। उस समय उसे संसार की किसी भी वस्तु के प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिए।

"जो एक आश्रम से दूसरे आश्रम में पहुंचकर, यज्ञ करते रहकर, दान देते रहकर, जितेन्द्रिय बने रहकर संन्यास ग्रहण कर चुकने पर तीनों आश्रमों के जीवन से भी असंतुष्ट हो जाता है, वह मरणान्तर परम् सुख लाभ करता है।"

"तीनों ऋण चुकता कर देने के अनन्तर उसे अन्तिम मुक्ति की ओर ध्यान देना चाहिए। जो बिना ऋण-मुक्त ऐसा प्रयास करता है, उसका पतन होता है।"

"नियमानुसार वेदों का अध्ययन करने के अनन्तर, सन्तान उत्पन्न करने के अनन्तर, अपनी योग्यता के अनुसार यज्ञ करते रहने के अनन्तर मोक्ष प्राप्ति की ओर ध्यान दे सकता है।"

"बिना वेदों का अध्ययन किए, बिना संतान उत्पन्न किए और बिना यज्ञ किए जो अन्तिम मुक्ति की ओर अग्रसर होता है, उसका पतन होता है।"

इन नियमों की ओर ध्यान देने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि मनु के अनुसार आश्रम-धर्म की तीन विशेषताएं हैं–

(1) आश्रम-धर्म शूद्रों और स्त्रियों के लिए निषिद्ध है।

(2) ब्रह्मचर्य आश्रम अनिवार्य है।

(3) उनका जो क्रम है, उसी क्रम से उनमें से गुजरना चाहिए, पहले ब्रह्मचर्य, दूसरे गृहस्थ, तीसरे वानप्रस्थ और अंत में संन्यास। बीच में एक अवस्था को छोड़ दूसरी में कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता।

यह जो आश्रमों की व्यवस्था है उस पर एक ऊपरी दृष्टि डालने से भी यह जो जीवन का योजना-बद्ध अर्थ-क्रम है उसके बारे में कुछ शंकाएं उपस्थित होती हैं। पहली शंका यही है कि इस प्रकार की योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था के लिए मनु को किन बातों ने मजबूर किया? जब वेदों को देखते हैं तो वहां इस प्रकार की व्यवस्था के लिए कोई स्थान नहीं है। उसमें ब्रह्मचर्य का उल्लेख है, किन्तु इस बात का कहीं उल्लेख नहीं कि यह जीवन की प्रथम सीढ़ी है और उस पर चढ़ना अनिवार्य है। ब्राह्मणों ने व्यक्तिगत जीवन में ब्रह्मचर्य को एक अनिवार्य अवस्था क्यों बनाया? आश्रम-धर्म के बारे में यही प्रथम पहेली है।

दूसरा प्रश्न है कि मनु ने जीवन की इन चारों अवस्थाओं में से इसी निश्चित क्रम में गुजरना क्यों आवश्यक ठहराया। अब इसमें कोई संदेह नहीं कि एक समय था जब किसी भी ब्रह्मचारी के लिए शेष तीनों आश्रमों के द्वार खुले थे! वह गृहस्थाश्रम में भी प्रवेश कर सकता था, और बिना गृहस्थाश्रमी बने सीधा संन्यासी भी बन सकता था। धर्म-सूत्रों के रचयिताओं का इस विषय में जो निर्णय है, उसके साथ तुलना की जाए। वशिष्ठ धर्म-सूत्र का कहना है–

''ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए जिसने एक, दो, या तीन वेदों का अध्ययन किया है, वह इन चारों आश्रमों में से स्वेच्छानुसार किसी भी एक आश्रम में प्रविष्ट हो सकता है।''

गौतम धर्म-सूत्र का कहना है–

''कुछ का मत है कि जिसने वेदों का अध्ययन किया, वह अपना चुनाव कर सकता है और मन चाहे आश्रम में प्रविष्ट हो सकता है।''

धर्म-शास्त्रों के मत से यह बात स्पष्ट है कि एक समय था कि जब वैवाहिक जीवन व्यतीत करना एक ऐच्छिक विषय था। ब्रह्मचर्य के बाद कोई सीधा वानप्रस्थी भी हो सकता था और चाहे तो संन्यासी भी हो सकता था। मनु ने यह जो ऐच्छिक विषय था, उसे अनिवार्य क्यों बनाया? मनु ने ऐच्छिक विषय को अनिवार्य बनाकर गृहस्थ जीवन को वानप्रस्थ जीवन में प्रवेश करने की मजबूरी और संन्यास में प्रवेश करने के लिए वानप्रस्थी होने की मजबूरी क्यों पैदा कर दी।

गृहस्थाश्रम के बाद जीवन का चक्र पूरा करने के लिए दो अवस्थाएँ अवशिष्ट रहती हैं–वानप्रस्थ और संन्यास। प्रश्न है कि मनु ने गृहस्थाश्रम के बाद व्यक्ति का इन दोनों अवस्थाओं में से गुजारना क्यों आवश्यक समझा? वानप्रस्थ और संन्यास के जीवन के

नियम इतने अधिक मिलते-जुलते हैं कि इस प्रकार का प्रश्न स्वाभाविक हो जाता है।

जब हम वानप्रस्थ की संन्यास के साथ तुलना करते हैं और गृहस्थाश्रम की वानप्रस्थ के साथ, तो दोनों में कुछ असाधारण समानताएं दिखाई देती हैं। यदि हम वानप्रस्थ की सन्यास के साथ तुलना करें तो दोनों के जीवन-क्रम में नाम मात्र का भेद दिखाई देगा। पहली बात तो यही है कि वानप्रस्थ न अपनी पत्नी का त्याग करता है और न उस अधिकार का जो उसे अपनी संपत्ति पर होता है। लेकिन एक संन्यासी को दोनों का परित्याग करना होता है। दूसरे एक वानप्रस्थ का रहने का कोई निश्चित स्थान होना चाहिए, भले ही वह जंगल में हो। लेकिन एक संन्यासी का कोई स्थिर निवास-स्थान नहीं होता, एक जंगल में भी नहीं। उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरते रहना ही चाहिए। दूसरे, एक संन्यासी पर यह प्रतिबन्ध लगा रहता है कि वह शास्त्रों की व्याख्या नहीं कर सकता। एक वानप्रस्थ पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा रहता। शेष बातों में उन दोनों का जीवन लगभग एक जैसा ही है।

गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ में इतनी निकट समानताएं देखकर यह समझना कठिन है कि मनु ने गृहस्थाश्रम और संन्यास के बीच यह तीसरा वानप्रस्थ आश्रम क्यों पैदा कर दिया या उसे क्यों स्वीकृति दी? वास्तव में तीन ही आश्रम होने चाहिए—(1) ब्रह्मचर्य, (2) गृहस्थ और संन्यासी। शङ्कराचार्य का भी यही मत मालूम होता है। अपने ब्रह्म-सूत्रों में जैमिनी के पूर्व मीमांसा मत का खण्डन करते हुए और सर्वकर्मत्यागी संन्यास का उसने जो समर्थन किया है उसमें उसने तीन ही आश्रमों की बात की है।

मनु को यह वानप्रस्थ का विचार कहां से सूझा? उसका स्रोत क्या है? जैसा उपर संकेत किया गया है, ब्रह्मचर्याश्रम के ठीक बाद अनिवार्य रूप से प्रवेश करने के लिए गृहस्थाश्रम नहीं था। बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश किए भी एक ब्रह्मचारी सीधा संन्यासी बन सकता था। लेकिन जीवन का एक दूसरा क्रम भी था जिसे कोई भी ब्रह्मचारी जो शादी नहीं करना चाहता था, वह अपना सकता था। वह जीवन था—आरण्यक का। ऐसे ब्रह्मचारी थे, जो शादी किए बिना इसी प्रकार का अध्ययन-अध्यापन का जीवन अपना सकते थे। आरण्यक गांव या लोगों के निवास-स्थानों से दूर अपने आश्रम बनाकर रहते थे। आरण्यकों के निवास-स्थान अरण्य और उनके द्वारा रचित ग्रन्थ भी आरण्यक। यह सहज ही समझ में आने लायक बात है कि मनु का वानप्रस्थ मौलिक रूप से आरण्यक ही है। हां, दो भेद हैं, (1) मनु ने आरण्यकों को भी मजबूर किया कि वे शादी अवश्य करें, और (2) आरण्यक स्थिति दूसरे नंबर की स्थिति न रहने देकर तीसरे नंबर पर बिठा दी गई। मनु की सारी योजना का आधार है कि शादी अनिवार्य तौर पर की जानी चाहिए। एक ब्रह्मचारी, यदि वह संन्यासी बनना चाहता है तो उसे पहले वानप्रस्थ बनना चाहिए और यदि वह वानप्रस्थ बनना चाहता है तो उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाना चाहिए, अर्थात अनिवार्य तौर पर शादी करनी चाहिए।

मनु ने शादी से छुट्टी पा सकना असंभव ठहरा दिया। ऐसा क्यों किया?

वर्ण-संकर जातियों की उत्पत्ति

मनु-स्मृति का कोई भी पाठक देखेगा कि चर्चा करने के लिए मनु ने सारी जातियों को पांच समूहों में विभक्त किया : (1) आर्य जातियां, (2) अनार्य जातियां, (3) वैश्य, तथा (4) पतित जातियां, (5) संकर जातियां।

आर्य जातियों से मनु का अभिप्राय है (1) ब्राह्मण, (2) क्षत्रिय, (3) वैश्य, तथा (4) शूद्र। दूसरे शब्दों में मनु चातुर्वर्ण की पद्धति को आर्य-वाद का सार मानता है। (2) अनार्य जातियों से उसका अभिप्राय उन जातियों से है जो चातुर्वर्ण की पद्धति को स्वीकार नहीं करतीं। ऐसी जातियां जो चातुवर्ण स्वीकार नहीं करतीं, उनका उदाहरण देने के लिए उसने दस्यु जाति का नाम लिया। व्रात्यों से उसका मतलब उन जातियों से है, जो पहले कभी चातुर्वर्ण को मानती रही हैं, किन्तु बाद में उन्होंने इस मान्यता के विरुद्ध विद्रोह किया है। मनु ने 18 जातियों को 'व्रात्य' माना है, पांच ब्राह्मण व्रात्य हैं, सात क्षत्रिय व्रात्य हैं और छह वैश्य व्रात्य हैं। पतित जातियों में मनु ने उन क्षत्रियों की गिनती की है जो आर्य संस्कारों से च्युत होने के कारण या ब्राह्मण-पुरहितों की सेवाओं से वंचित होने के कारण शूद्र बन गए। मनु ने 11 जातियों को इस प्रकार की पतित जातियां माना है। उनके नाम हैं : (1) पौण्डरक, (2) चोल, (3) द्रविड़, (4) काम्भोज, (5) यवन, (6) शक, (7) परद, (8) पहलव, (9) चीन, (10) किरात, (11) दरद।

संकर-जातियों से मनु का अभिप्राय उन जातियों से है जिनके सदस्य ऐसे माता-पिताओं से उत्पन्न हुए हैं जिनकी एक ही जाति नहीं रही।

इन मिश्रित जातियों को मनु कई वर्गों में बांटता है—(1) भिन्न-भिन्न आर्य जातियों से उत्पन्न संतान। इनके दो विभाजन हैं—अनुलोम, प्रतिलोम (2) फिर अनुलोम तथा प्रतिलोम जातियों से उत्पन्न सन्तति। (3) अनार्यों तथा आर्य-अनुलोम और प्रतिलोम जातियों से उत्पन्न सन्तति। जिन जातियों को मनु ने मिश्रित जातियां माना है उनके पूर्वजों की सूची दी है—

1. मिश्रित आर्य जातियां

पिता	**मां**
(क) ब्राह्मण	क्षत्रिय

(ख)	ब्राह्मण	वैश्य
(ग)	ब्राह्मण	शूद्र आदि बारह जातियां

2. आर्य जातियों की अनुलोम प्रतिलोम सन्तति

	पिता	**मां**
(क)	ब्राह्मण	उग्र
(ख)	ब्राह्मण	अम्बष्ठ
(ग)	ब्राह्मण	आभीर
(घ)	शूद्र	निषाद आदि चार जातियां

3. अनुलोम तथा प्रतिलोम जातियों के बीच हुए विवाह से उत्पन्न सन्तति

	पिता	**माता**	**सन्तति**
1.	वैदेह	अयोगव	मैत्रेय्यक
2.	निषाद	अयोगव	मरगव आदि बारह जातियां

मनु की जो संकर जातियों की सूची थी, उसे मनु के उत्तराधिकरियों ने और बढ़ा दिया। इनमें औशुनाश स्मृति, बौधायन स्मृति, वशिष्ट स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और सुत संहिता के रचयिता सम्मिलित हैं। इनमें चार जातियों की बढ़ोत्तरी औशुनाश स्मृति ने की है। चार की बढ़ोत्तरी बुधायन स्मृति ने की है। वशिष्ठ स्मृति ने मनुस्मृति की सूची में एक की बढ़ोत्तरी की है। याज्ञवल्क्य स्मृति ने मनु की वर्ण संकर जातियों की सूची में दो नई वर्ण-संकर जातियों के नाम जोड़े हैं। सुत संहिता के रचयिता ने जो नयी जातियां जोड़ी हैं, उनकी संख्या 63 है।

जातियों के जो पांच समूह हैं उनमें प्रथम चार जातियों की उत्पत्ति की जो व्याख्या की है उसका हृदयङ्गम कर सकना आसान है। किन्तु यही बात संकर जातियों की जो उत्पत्ति मनु महाराज ने बताई है, उसके विषय में कह सकना आसान नहीं। अनेक प्रश्न हैं जो हैरान करने लगते हैं। पहली बात तो यही है कि वर्ण-संकर जातियों का उल्लेख करने वाली यह विस्तृत सूची नहीं है।

आर्य जातियों तथा अनुलोम प्रतिलोम जातियों के मिश्रण से जो जातियां उत्पन्न हुईं, उनका विचार करते समय मनु को चाहिए था कि उन जातियों के नाम दे देता जो चारों आर्य जातियों तथा बारह अनुलोम-प्रतिलोम जातियों के संसर्ग से उत्पन्न हुईं। यदि उसने ऐसा किया होता तो हमारे पास ऐसी 48 जातियों की सूची होती। वह तो इस प्रकार की मिश्रित जातियों के केवल चार ही नाम देता है।

अनुलोम-प्रतिलोप जातियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न केवल बारह जातियों की सूची दी गई है। मनु को उनसे उत्पन्न 144 नाम देने चाहिए थे। यदि उसने ऐसा किया होता तो हमारे सामने ऐसे 48 नाम होते। मनु ने तो इस प्रकार की केवल 4 जातियों के नाम दिये हैं।

अनुलोम-प्रतिलोम जातियों के मिश्रण से उत्पन्न जातियों की चर्चा करते समय मनु

को 144 नाम देने चाहिए थे। लेकिन मनु ने तो केवल चार ऐसी जातियों के नाम दिये हैं। मनु ने केवल 5 जातियों के 5 संभव मिश्रण की बात की है। उनमें से एक विदेह अनुलोम-प्रतिलोम सूची के अंतर्गत नहीं आते। आठ जातियों को लेकर विचार ही नहीं हुआ है।

अनार्य तथा आर्य जातियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न संकर-जातियों की चर्चा भी उतनी ही विसंगत है। सबसे पहले हमारे सामने उन जातियों की एक सूची होनी चाहिए थी जो चारों आर्य जातियों और अनार्य जातियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई हों। हमारे पास ऐसी सूची है ही नहीं। याद हम यह ही मान लें कि अनार्य जाति केवल एक ही थी—दस्यु जाति। तो भी हमारे सामने दस्यु जाति, और अनुलोम-प्रतिलोम जातियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न बारह जातियों की सूची होनी चाहिए थी। मनु ने तो केवल एक ही ऐसे सम्मिश्रण की बात कही है।

इन मिश्रित जातियों के विषय की चर्चा करते हुए मनु ने न तो व्रात्यों और आर्यजनों के सम्मिश्रण की बात की है, न व्रात्यों तथा अनुलोम और प्रतिलोम जातियों की और न व्रात्यों और अनार्य जातियों के सम्मिश्रण की।

जिन सम्मिश्रणों की ओर मनु का ध्यान नहीं गया था, जिनकी उसने चर्चा नहीं की उनमें कुछ अत्यन्त विशेष हैं। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच हुए संकर-संबंध को लें। वह इन दोनों के बीच हुए संक्रमण से उत्पन्न सन्तति की चर्चा नहीं करता। वह यह भी नहीं बताता कि उन दोनों के मेल से उत्पन्न सन्तति अनुलोम थी या प्रतिलोम थी? मनु ने इस संभावना की चर्चा क्यों नहीं की? क्या हम यह मान लें कि मनु के समय में इस प्रकार का सम्मिश्रण कभी हुआ ही नहीं था? उसे इसकी चर्चा करने में भय मालूम देता था? यदि यह भयभीत था, तो किससे?

मनु ने जिन मिश्रित जातियों के नाम लिखे हैं उनमें से कुछ एकदम काल्पनिक हैं।

जिन कुछ जातियों को मनु ने हरामी कहा है, मनु से पहले उनके कभी नाम भी नहीं सुने गए हैं। कोई यह भी नहीं जानता कि मनु के बाद उन जातियों का क्या हुआ? उनका आज कुछ भी नामोनिशान नहीं है। जाति एक ऐसा पदार्थ है जो नमक या चीनी की तरह पानी में घुल-मिल नहीं सकता। यह एक बार अस्तित्व में आने पर मिटती नहीं। कभी किसी खास कारण से जाति का लोप भी हो सकता है, लेकिन बहुधा नहीं होता।

ये अयोगव कौन हैं? धीगवन, उग्र, पुक्कस, स्वपक, स्वपच, पण्डुसोपक, अहिण्डक, वण्डिक, मत्त, महिकर, शलिक, शुण्डिक, शुलिक, येकज, तथा कुकुन्द कौन हैं? वे जातियां कहां हैं? उन्हें क्या हुआ है? अब हम मनु की तुलना बाकी स्मृतिकारों से करें। क्या वे इन मिश्रित जातियों की उत्पत्ति के बारे में एकमत हैं? एकदम नहीं। इन्हीं को लें।

1. अयोगव

	स्मृति	पिता की जाति	मां की जाति
1.	मनुस्मृति	शूद्र	वैश्य

2.	औपनास	वैश्य	क्षत्रिय
3.	याज्ञवल्क्य	शूद्र	वैश्य
4.	बौधायन	वैश्य	क्षत्रिय
5.	अग्निपुराण	शूद्र	क्षत्रिय

जैसे अयोगवों की उत्पत्ति के बारे में थोड़ी भी सहमति नहीं है, वैसी ही उग्र के बारे में। वेसी ही निषाद के बारे में। वैसी ही पुक्कस के बारे में। वैसी ही मगध के बारे में। वैसी ही रथकार के बारे में। वैसी ही विदेहक के बारे में।

यदि भिन्न-भिन्न स्मृतिकार मिश्रित जातियों की उत्पत्ति को लेकर चर्चा कर रहे हैं, तो उनमें इतना आपसी भेद कैसे हो सकता है? दो जातियों के संसर्ग से एक तीसरी मिश्रित जाति उत्पन्न हो सकती है। लेकिन यदि दोनों जातियां एक ही हों तो उनसे अनेक भिन्न-भिन्न जातियां कैसे उत्पन्न हो सकती हैं? ऐसा लगता है कि मनु और उसके अनुयायी ठीक यही बात जोर देकर कह रहे हैं। इस पर विचार कीजिए—

1. पिता शूद्र और मां वैश्य
   (क) बौधायन का कहना है कि सन्तान क्षत्रिय होगी।
   (ख) याज्ञवल्क्य का कहना है, महिष्य।
   (ग) सुत का कहना है अम्बष्ट।
2. पिता शूद्र और मां क्षत्रिय
   (क) मनु का कहना है कि सन्तति खत्री होगी।
   (ख) औषनस का कहना है पुल्लक्ष।
   (ग) वशष्ठि का कहना है, वैन।
3. पिता ब्राह्मण और मां वैश्य।
   (क) मनु का कहना है कि सन्तति अम्बष्ट होगी।
   (ख) सुत का एक स्थल पर कथन है—उर्ध्व नापित, अन्यत्र लिखा है कुम्भकार।
4. पिता वैश्य मां क्षत्रिय।
   (क) मनु का कहना है कि सन्तति मगध कहलाएगी।
   (ख) सुत का कहना है कि इस सरल संयोग से उत्पन्न मिश्रित जाति (1) भोज, (2) म्लेच्छ, (3) शालिक, और (4) पुलिन्द कहलाएगी।
5. पिता क्षत्रिय मां शूद्र।
   (क) मनु का कहना है कि सन्तति उग्र कहलाएगी।
   (ख) सुत का कहना है कि सन्तति (1) दौष्यन्त, (2) दौष्यन्ति, (3) शौलिक कहलाएगी।
6. पिता शूद्र और मां वैश्य।
   (क) मनु ने सन्तति को अयोगव कहा है।
   (ख) सुत ने सन्तति को पतनशाली तथा चक्री भी कहा है।

अब हम नया प्रश्न पूछें। क्या मनु ने मिश्र जातियों की उत्पत्ति की जो व्याख्या की है, वह ऐतिहासिक है?

अभीरों से आरंभ करें। मनु के अनुसार ब्राह्मण पुल्लिंग और अम्बष्ट स्त्रीलिंग के हरामी बच्चे अहीर हैं। इतिहास का कहना है कि अभीर (जिनका विकृत रूप अहीर है) घुमन्तू जाति थी जो कि उत्तर-पश्चिम के नीचे के भाग में सिन्ध तक निवास करती थी। वह एक स्वतन्त्र शासक जाति थी। विष्णु पुराण के अनुसार अहीरों ने मगध को जीत लिया था और वहां अनेक वर्षों तक राज्य किया।

अम्बष्टों के बारे में मनु का कहना है कि वे ब्राह्मण-वैश्य स्त्री की हरामी सन्तान हैं। पातञ्जलि का कहना है कि अम्बष्ट देश के निवासी अम्बष्ट्य कहलाते थे। यह बात विवाद से परे है कि अम्बष्ट एक स्वतंत्र जाति थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहने वाले यूनानी राजदूत मेगस्थनीज का कहना है कि अम्बष्ट पंजाब में रहने वाली जातियों में से एक थे, जिन्होंने सिकन्दर के पंजाब पर हमला करने पर उसका मुकाबला किया। अम्बष्टों की चर्चा महाभारत में भी आई है। अपनी राजनीतिक व्यवस्था और बहादुरी के लिए वे बड़े प्रसिद्ध थे।

मनु का कहना है कि आन्ध्र डबल हरामी हैं। वे वैदेहक पुरुष और करवर स्त्री की सन्तान हैं। ये दोनों जातियां पहले ही वर्ण-संकर जाति थीं। इतिहास के साक्षी इसके सर्वथा विपरीत हैं। आन्ध्र वे लोग हैं जो दक्षिण के पठार के पूर्वी भाग में रहते आये हैं। मैगस्थनीज ने भी आन्ध्रों की चर्चा की है। ज्येष्ठ प्लीनी (77 ई.) ने उनका उल्लेख एक ऐसी जाति के तौर पर किया है, जिसका उनके अपने हिस्से के दक्षिण के भूभाग पर पूरा अधिकार था। वे अनेक गांव के मालिक थे। उनके पास तीस ऐसे शहर थे, जिनकी चहारदीवारी थी और जो खाइयों से सुरक्षित थे। उन्होंने अपने राजा को एक लाख पैदल, दो हजार घोड़े और एक हजार हाथियों की महती सेना सौंप रखी थी।

मनु के अनुसार मगध जनपद के लोग मागध भी वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की सन्तति होने से हरामी जाति हैं। वैयाकरण पाणिनी ने 'मगध' शब्द की दूसरी ही व्युत्पत्ति दी है। उसके अनुसार मगध जनपद का निवासी 'मागध' कहलाता है। मोटे तौर पर बिहार के पटना और गया जिले ही पुराना मगध हैं। प्राचीनतम समय से मागधों की गिनती एक स्वतंत्र प्रभुत्व संपन्न जाति के तौर पर ही हुई है। सर्वप्रथम उनका उल्लेख अथर्ववेद में हुआ है। प्रसिद्ध जरासंध मगध का ही नरेश था। यह पाण्डवों का समकालीन था।

मनु के अनुसार ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुए निषाद भी हरामी संतान हैं। इतिहास का कुछ और ही कहना है। निषाद जाति एक स्वतंत्र प्रदेश की मालिक थी। उनका अपना राजा था। यह एक अत्यंत प्राचीन जाति है। रामायण निषाद-नरेश गुहा का जिकर करती है। शृंगवेपुर निषाद-नरेश की राजधानी थी। जिस समय राम जंगल में अपने नववास के दिन काट रहे थे, निषाद-नरेश ने उनका स्वागत किया था।

मनु के अनुसार वैदेहक भी वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की संतान होने से हरामी

संतान थी। वैदेहक का मतलब है विदेह जनपद का अधिवासी। प्राचीन विदेह आजकल का विहार राज्य का चंपारण और दरभंगा जिले हैं। बहुत पुराने समय से उस प्रदेश का और वहां के लोगों का इतिहास में उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद में उनकी चर्चा आई है। रामायण में उनका उल्लेख है। राम की पत्नी सीता राजा जनक की कन्या थी। जनक विदेह का राजा था और मिथिला विदेह की राजधानी थी।

और अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। जो दिए गये हैं वे यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि मनु ने इतिहास को कितना अधिक विकृत किया है। उसने सबसे अधिक आदरणीय और शक्तिशाली जातियों को 'हरामी' कहकर उनकी बदनामी की है। बड़ी-बड़ी जातियों को सामूहिक रूप से 'हरामी' कहा गया है। मनु अपनी इस 'हरामी' बनाने की योजना को व्रात्यों तक नहीं ले गए। लेकिन उसके अनुयायियों ने उसकी योजना को आगे बढ़ाया और व्रात्यों के भी हरामी होने की घोषणा की। मनु के अनुसार करन व्रात्य है, लेकिन ब्रह्मवैवर्त पुराण उस जाति के लोगों को भी 'हरामी' कहता है। उसका कहना है कि वे वैश्य पिता और शूद्र माता की संतान हैं। मनु के अनुसार पौण्डरक भी व्रात्य हैं। लेकिन ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार वे भी हरामी हैं, क्योंकि वे वैश्य पुरुष और चण्डी स्त्री की संतान हैं। मनु के अनुसार मल्ल भी व्रात्य हैं। लेकिन ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार वे भी हरामी हैं, क्योंकि उनका जन्म लेता पुरुष और तिबरा स्त्री से हुआ। मनु के अनुसार व्हरज्ज कौतक व्रात्य ब्राह्मण हैं। लेकिन गौतम संहिता के अनुसार वे भी ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री की संतान होने से हरामी हैं। यवनों को मनु ने व्रात्य क्षत्रिय माना है। किंतु गौतम संहिता के अनुसार क्षत्रिय पुरुष और शूद्र मां की संतान होने से वे भी हरामी थे। मनु के अनुसार किरात व्रात्य क्षत्रिय हैं। लेकिन वल्लाल चरित्र ने उनको भी हरामी माना है, क्योंकि वे वैश्य पुरुष और ब्राह्मण मां की संतान थे।

यह बात एकदम स्पष्ट है कि जिन कुछ जाति-समूहों को मनु ने हारामी कहा है, वे हरामी तो थे ही नहीं। वे स्वतंत्र जातियां थीं। मनु और दूसरे स्मृतिकारों ने उन्हें 'हरामी' कहा। उनकी ओर से यह कैसा पागलपन? क्या यह पागलपन भी योजनाबद्ध पागलपन रहा है?

सारी परिस्थिति का विचार करने पर यह एक बड़ी पहेली सामने आती है कि मनु ने यह वर्ण संकर जातियों का प्रश्न ही क्यों उठाया? और आखिर वह उन वर्ण संकर जातियों के बारे में क्या कहना चाहता था?

यह संभव है कि मनु को यह बात स्पष्ट हो गई हो कि चातुर्वर्ण असफल रहा है और कि ऐसी जातियों की इतनी बड़ी संख्या का होना, जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कुछ भी नहीं कहा जा सकता, चातुर्वर्ण के असफल होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। तब उसे इस बात की जरूरत पड़ी कि इस बात को स्पष्ट करे कि चातुर्वर्ण को न मानने वाली इतनी सब जातियां कैसे उत्पन्न हुईं? चातुर्वर्णी व्यवस्था मुंह ताकती रह गई।

लेकिन क्या मनु इस बात को हृदयङ्गम कर सका कि उसने कितनी भयानक व्याख्या

उपस्थित की है? उसकी व्याख्या से क्या प्रमाणित होता है?

लोगों के, विशेष रूप से स्त्रियों के चरित्र पर यह कितना बड़ा आक्षेप है? यह स्पष्ट ही है कि चातुर्वर्णी व्यवस्था द्वारा निषिद्ध ठहरा दिए गए स्त्री-पुरुष के बीच इस प्रकार के समागम लुक-छिपकर ही होते होंगे। वे थोक स्तर पर नहीं ही होते रहे होंगे। लेकिन जब तक यह न मान लिया जाए कि स्वच्छ संभोग थोक स्तर पर होते थे, तो जैसी मनु की व्याख्या है, चाण्डालों या अन्त्यजों का मूल कैसे समझा या समझाया जा सकता है?

मनु का कहना है कि चाण्डालों की उत्पत्ति शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता के बीच हुए अनैतिक संसर्ग का परिणाम है। क्या यह कथन सत्य हो सकता है? इसका मतलब हुआ कि ब्राह्मण स्त्रियां अपने शीलपालन के विषय में बहुत चुस्त न रही होंगी और उन्हें शूद्र पुरुष विशेष रूप से आकर्षित करते रहे होंगे। यह अविश्सनीय है।

चाण्डालों की जनसंख्या इतनी विशाल है कि यदि प्रत्येक ब्राह्मण स्त्री को लेकर भी यह मान लिया जाए कि उसका शूद्र से संबंध रहा, तो देश में जो चाण्डालों की इतनी बड़ी संख्या है, उसकी सही व्याख्या नहीं होती।

क्या मनु की समझ में यह बात आई होगी कि वर्ण संकर जातियों के मूल के बारे में अपनी स्थापना उपस्थित करके मनु ने लोगों की इतनी बड़ी संख्या को सामाजिक और नैतिक दृष्टि से पतित घोषित कर डाला है। उसने ऐसा क्यों कहा कि मूल जातियां मिश्रित थीं या वर्णसंकर थीं। सचाई तो यह है कि ये स्वतंत्र जातियां थीं।

पितृत्व से मातृत्व की ओर तथा कलिवर्ज्य

हिंदू-कानून पर श्री. मेने ने जो एक किताब लिखी है उसमें रिश्तेदारी को लेकर कई असंगत नियमों की चर्चा की है। उसका कहना है–

"हिंदू-कानून का कोई भी हिस्सा इतना विसंगत नहीं जितना रिश्तेदारी से संबंधित हिस्सा। केवल इतना ही नहीं कि प्राचीन व्यवस्था और विद्यमान अवस्था में तनिक भी सातत्य नहीं है, एक कानून है, उत्तराधिकारी का कानून जो इस बात को संभव मानकर चलता है कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी चौदह पीढ़ियों तक अपने पुरुष-पूर्वजों की परंपरा तक पहुंचा जा सकता है। इसके साथ ही जुड़ा हुआ है जिसमें विवाह के कई ऐसे रूप मान्य किए गए हैं जो किसी स्त्री को उठाकर ले जाने, उसको अगवा करने और उसके साथ बलात्कार करने के सुंदर वर्णन मात्र हैं। इनमें बारह प्रकार के पुत्रों को मान्य ठहराया है। अधिकांश हालतों में इन पुत्रों को अपने पिताओं से भी रक्त-संबंध नहीं।"

इस विसंगति का होना एक वास्तविकता है और जो लोग शादी-विवाह के हिंदू-कानून और पितृत्व का अध्ययन करना चाहेंगे उन्हें यह सारा प्रकरण सुस्पष्ट हो जाएगा।

हिंदू कानून आठ प्रकार के शादी-विवाहों को मान्यता देता है, जिनके नाम हैं–(1) ब्राह्म, (2) दैव, (3) आर्ष, (4) प्राजापत्य, (5) असुर, (6) गन्धर्व, (7) राक्षस, और (8) पैशाच।

ब्राह्म विवाह एक अच्छे गहने-कपड़े पहनी लड़की का उसके पिता द्वारा किसी वेदज्ञ व्यक्ति को सप्रेम भेंट किया जाना है, जिसे वह अपने घर निमंत्रण देता है और उसका सगौरव स्वागत करता है।

दैव विधि में लड़की का पिता लड़की को अपने पुरोहित को सौंप देता है।

आर्ष विवाह पद्धति में पत्नी का पिता वर के पिता को वर का मूल्य चुकाता है।

प्राजापत्य विवाह पद्धति में आदमी किसी लड़की से प्रार्थना करता है कि वह उसकी पत्नी हो जाए और उसकी वह प्रार्थना लड़की का पिता मंजूर करता है। ब्राह्म विवाह पद्धति और प्राजापत्या पद्धति में थोड़ा भेद है। ब्राह्म विवाह पद्धति में लड़की का पिता स्वेच्छा से कन्यादान करता है, किंतु उसके लिए प्रार्थी को याचना करनी पड़ती है। विवाह की पाँचवीं असुर पद्धति वह है कि जिसमें वर, कन्या के पिता और उसके रिश्तेदारों को

अधिक-से-अधिक पैसा देकर उसे अपनी पत्नी बनाता है

आर्ष और विवाह की असुर पद्धति में बहुत भेद नहीं है। दोनों में लड़की की कीमत चुकानी पड़ती है। फर्क इस बात में है कि आर्ष पद्धति में लड़की की निश्चित कीमत चुकानी पड़ती है। असुर पद्धति में निश्चित कीमत नहीं। गंधर्व विवाह पद्धति में वासना पूर्ति के लिए लड़की और उसके रिश्तेदारों को राजी किया जाता है। लड़की का उसके घर में जबर्दस्ती अपहरण, जबकि वह रोती रह जाती है और अपने उन भाइयों और रिश्तेदारों को मदद के लिए बुलाती है जिनके घर नष्ट कर दिए जाते हैं या जिन्हें लड़ाई के मैदान में मारा जाता है, राक्षस विवाह पद्धति कहलाती है।

पैशाच विवाह पद्धति में या तो जब लड़की सोती रहती है, या शराब पीकर बेहोश हुई रहती है, या विक्षिप्त अवस्था में रहती है, उस समय बलात्कार किया जाता है।

हिन्दू-कानून में तेरह प्रकार के पुत्रों को मान्यता दी है, (1) औरस, (2) क्षेत्रज, (3) पौत्रिक पुत्र, (4) कनिन, (5) गूढ़ज, (6) पुनर्भव, (7) सहोद्यज, (8) दत्तक, (9) कृत्रिम, (10) कृतक, (11) अपविद्ध, (12) स्वयंदत्त, (13) निषद।

औरस पुत्र उस संतान को कहते हैं जो आदमी को उसकी अपनी पत्नी से प्राप्त होती है।

पौत्रिक पुत्र वह पुत्र कहलाता है जिसे आदमी की पुत्री जन्म देती है। इस पद्धति की विशेषता है कि यदि किसी आदमी को पुत्री ही हो और पुत्र न हो तो वह अपनी पुत्री को अपने मन के किसी आदमी से संभोग करने के लिए कह सकता है। यदि उसके परिणामस्वरूप लड़की किसी लड़के को जन्म दे तो वह लड़का लड़की के बाप का पुत्र मान लिया जाता है। इसीलिए वह पुत्र पौत्रिक पुत्र कहलाता है। अपनी लड़की को अपने मन के किसी आदमी से संभोग करने के लिए मजबूर करने का आदमी का अधिकार लड़की की शादी हो चुकने के बाद तक बना रहता था। इसीलिए आदमी को सावधान कर दिया जाता है कि वह किसी ऐसी लड़की से शादी न करे जिसको कोई भाई न हो।

क्षेत्रज का शब्दार्थ है खेत की संतान या पत्नी का पुत्र। हिंदू-चिंतन पद्धति में स्त्री को खेत कहा गया है और उसके स्वामी को खेत का मालिक। जहां पति का मरण हो जाए या वह जीवित रहते हुए नपुंसक हो जाए अथवा किसी असाध्य रोग से रुग्ण हो जाए, तो या तो उसके भाई अथवा किसी सपिण्ड की नियुक्ति की जाती है कि वह उस औरत से संतान उत्पन्न करे। यह पद्धति नियोग कहलाती है। इस प्रकार जो पुत्र पैदा होता था क्षेत्रज।

यदि किसी लड़की ने अपने पिता के घर में रहते समय ही विवाह से भी पूर्व किसी पुत्र को जन्म दे दिया हो तो विवाह होने पर उस पत्नी का पति उस लड़के को अपना लड़का मान लेता है। ऐसा लड़का कनिन कहलाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि गूढ़ज उस पुत्र को कहते थे, जिसके बारे में उसकी मां के पति के मन में संदेह पैदा हो जाता था कि वह उसी का पुत्र है या नहीं, लेकिन तब भी वह उसे अपना पुत्र स्वीकार करता था। गूढ़ का मतलब है संदिग्ध। उसके पिता का उसका वास्तविक पिता होना संदिग्ध रहता था।

सहोढ्ज ऐसे पुत्र को कहते थे, जिसकी मां विवाह से पूर्व गर्भिणी होती थी। विवाह के अनंतर उस संतान के बारे में यह संदेह बना रहता था कि यह उसी गर्भ से उत्पन्न हुआ है या विवाह के अनंतर किसी दूसरे आदमी के संसर्ग से उत्पन्न हुआ है? इतना निश्चित है कि सहोढ्ज उस पुत्र को कहते थे जो ऐसी गर्भिणी मां की संतान हो, जिसके भावी पति ने उस पुत्र को अपना पुत्र मान लिया हो।

पुनर्भव ऐसी मां के पुत्र को कहते हैं जिसको उसके पति ने त्याग दिया हो, वह औरों के साथ रहती हो और अब उसने नए सिरे से गृह-प्रवेश किया हो। यह ऐसी मां के पुत्र को भी कहते हैं, जिसने अपने नपुंसक, जाति-बहिष्कृत विक्षिप्त या मृत पति को त्याग दिया हो और दूसरे आदमी को अपना पति बनाया हो।

परस्व उस बालक को कहते हैं जो ब्राह्मण पति और शूद्र पत्नी की संतान हो।

शेष लड़के दत्तक लिए पुत्र हैं। वे उनसे भिन्न हैं जिन्हें पुत्र मान लिया जाता है।

दत्तक वह पुत्र होता है जिसे उसके माता-पिता किसी दूसरे को सौंप देते हैं कि वह उसे अपना पुत्र मानकर उसका पालन-पोषण करे।

कृत्रिम उस पुत्र को कहते हैं जिसे उसकी रजामंदी से किसी ने गोद लिया हो।

क्रीत उस लड़के को कहते हैं जो उसके माता-पिता से खरीदा गया हो।

अपविद्ध उस बच्चे को कहते हैं जिसके माता-पिता ने उसका त्याग कर दिया हो और तब किसी ने उसे अपना पुत्र मान लिया हो।

स्वयंदत्त उस लड़के को कहते हैं जिसे उसके माता-पिता ने त्याग दिया हो और जिसने स्वयं आकर किसी से कहा हो, 'आप मुझे अपना पुत्र बना लें।' और किसी ने उसे अपना पुत्र मान लिया हो।

यह बात ध्यान देने की है, यह बात कितनी सत्य है कि शादियों में अनेक शादियां ऐसी हैं जो किसी के भगाकर ले जाने या जबर्दस्ती बलात्कार करने का सुंदर नामकरण मात्र हैं और अनेक पुत्र ऐसे हैं, जिनका अपने पिता से कुछ भी रक्त संबंध नहीं होता। ये विवाह के नाना प्रकार और ये तेरह तरह के पुत्र मनु के समय तक मान्य थे। मनु ने भी इन्य मान्यताओं में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं किया। शादियों के प्रकारों के बारे में मनु उन्हें गैर-कानूनी नहीं कहता। वह इतना ही कहता है कि विवाह के आठ प्रकारों में से छह प्रकार की शादियां एक क्षत्रिय के लिए विहित हैं और तीन वैश्य तथा शूद्र के लिए।

इसी तरह वह बारह पुत्रों में से भी किसी को अनधिकारी सिद्ध नहीं करता। उसके विरुद्ध वह तो उनके रिश्ते को मान्यता देता है। हां, वह इतना करता है कि उनका दो भागों में विभाजन करके उत्तराधिकार के नियमों को प्रभावित करता है, (1) उत्तराधिकारी और रिश्तेदार (2) रिश्तेदार किंतु उत्तराधिकारी नहीं। मनु का कथन है–

अपना औरस पुत्र, अपनी पत्नी से उत्पन्न पुत्र, दत्तक पुत्र, स्वीकृत पुत्र, छिपाकर उत्पन्न किया गया पुत्र और जिस पुत्र को फेंक दिया गया हो–ये सब उत्तराधिकारी भी हैं और रिश्तेदार भी।

"कुंवारी का पुत्र, विवाहिता के साथ आया हुआ पुत्र, खरीदा गया पुत्र, दुबारा शादी-शुदा पत्नी का पुत्र, अपने से बना हुआ पुत्र और शूद्रा पत्नी से उत्पन्न हुआ पुत्र—ये छह ऐसे हैं जो उत्तराधिकारी नहीं, लेकिन तब भी रिश्तेदार हैं।

"यदि एक ही आदमी के दो उत्तराधिकारी हों, एक उसका औरस पुत्र हो, दूसरा उसकी पत्नी का पुत्र हो, तो दोनों में से हर कोई अपने-अपने पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी होगा।

यूं जो औरस पुत्र है, एकमात्र वही संपत्ति का अधिकारी होगा। शेष के प्रति कठोरता न हो, इसलिए उन्हें भी कुछ खर्चा-पानी दिया जा सकता है।"

इस समान-रक्तता की बात में एक और बड़ा परिवर्तन हो गया है, लेकिन मुश्किल से किसी विरला का ही ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ होगा। इसका संबंध बच्चे के वर्ण से है। क्या बच्चे का वर्ण वही होगा जो पिता का वर्ण है या वही होगा जो माता का वर्ण है? उस कानून के अनुसार जो मनु के समय से पूर्व लागू था, बच्चे का वर्ण वही होता था जो पिता का होता था। मां के वर्ण की कोई कीमत ही न थी।

मनु ने क्या किया? बच्चे के वर्ण को लेकर मनु ने जो परिवर्तन किए हैं, वे क्रांतिकारी स्तर के हैं। मनु ने नियम बनाए—

"सभी जातियों या वर्णों में जो बच्चे अपनी विवाहिता पत्नियों से उत्पन्न हुए हैं, वे ही अपने पिता के वर्ण के माने जाएंगे।"

"जो बच्चे द्विजन्मा पिताओं से अपने से नं. 2 जाति की पत्नियों से उत्पन्न हैं, वे भी अपने पिताओं के वर्ण के माने जाएंगे। हां उनकी माताओं के दोष के कारण वे टीका के भाजन बनेंगे।"

"जो बच्चे द्विजन्मा पिताओं से नं. 2 से नीची जातियों के पत्नियों से उत्पन्न हुए हैं वे भी अपने पिताओं के वर्ण के माने जाएंगे।

"ऐसे कुछ बच्चे जो आर्य जनों ने अपने से नीचे की पत्नियों से उत्पन्न किए हैं उनके अधिकार द्विजों जैसे ही होंगे, किंतु वे शूद्र माने जाएंगे।

मनु ने बच्चे के वर्ण संबंधी नियमों को पलट दिया। उसने उसे पितृवर्ण का न रहने देकर मातृ-सवर्ण बना दिया।

अनेक पेशबंदियों के बावजूद चातुर्वर्ण व्यवस्था में ऐसी बहुत-सी कमियां थीं जिनसे कोई मनचाहे वर्ण में प्रवेश पा सकता था। यों एक शूद्र न एक ब्राह्मण बन सकता था, न क्षत्रिय, और न वैश्य। लेकिन यदि उसकी शादी किसी वैश्य से हो गई हो, तो एक शूद्र स्त्री का पुत्र वैश्य बन सकता था। इसी प्रकार यदि उसकी शादी किसी क्षत्रिय से हुई हो, तो एक शूद्र स्त्री का पुत्र क्षत्रिय बन सकता था। और यदि उसका विवाह ब्राह्मण से हुआ हो तो वह ब्राह्मण भी बन सकता था।

मनु ने पितृ-सवर्ण से मातृसवर्ण में परिवर्तन क्यों किया?

कलिवर्ज्य

बहुत कम लोगों ने 'कलिवर्ज्य' नामक मिथ्या-मत के बारे में कुछ भी सुना होगा। इसे ब्राह्मण-वाद के ही कलियुग नाम के दूसरे मिथ्या-मत के साथ उलझाना नहीं चाहिए। कलिवर्ज्य के मिथ्या मत का मतलब है कि दूसरे समयों में, दूसरे युगों में जो बातें, जो कार्य-कलाप विहित थे, वे कलि युग में निषिद्ध हैं। इन कलिवर्ज्यों के बारे में प्रामाणिक जानकारी भिन्न-भिन्न पुराणों में बिखरी पड़ी है। उनमें से कुछ चुने हुए कलिवर्ज्य हम यहां दे रहे हैं–

(1) पति के भाई को विधवा से पुत्र उत्पन्न करने को नियुक्त करना।

(2) गो-मेध यज्ञ में गौ का वध करना।

(3) श्रौतमनि यज्ञ में भी शराब का पीना।

(4) ब्राह्मण को प्रायश्चित्त स्वरूप मृत्यु दण्ड देना।

(5) मंत्रोच्चारण के साथ पशुओं का मांस, वर, अतिथि तथा पितरों को समर्पित करना।

(6) यज्ञ के लिए वध किए जाने वाले पशुओं की ब्राह्मणों द्वारा की जाने वाली हत्या।

(7) सोम रस के पौधों की ब्राह्मणों द्वारा बिक्री।

(8) अपने दासों से यदि वे शूद्र हों तो भी ब्राह्मणों के लिए पकी सामग्री ग्रहण करने की अनुमति।

(9) संन्यासी के लिए सभी वर्णों के घरों से भिक्षाटन कर सकना।

(10) शूद्रों को ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों के लिए भी रसोई बनाने के काम पर नियुक्त करना।

(11) जहां भी शाम हो जाए, संन्यासी के लिए वहीं रात बिताना।

इस कलिवर्ज्य के बारे में बड़े आश्चर्य की बात है कि लोगों ने इसके महत्त्व को पूरी तरह हृदयङ्गम नहीं किया है। इसे कलियुग में जो बातें अकरणीय हैं उनकी सूची मात्र समझा जाता है। लेकिन इन निषेधों की सूची के पीछे बहुत कुछ है। इसमें कुछ संदेह नहीं कि ये उक्त कार्य और दूसरे भी कलिवर्ज्य कार्य कलियुग के लिए अकरणीय ठहराए गए हैं। प्रश्न है क्यों? क्या ये कार्य अनैतिक हैं। क्या इनका करना पाप है? क्या इनसे समाज को खतरा है? उत्तर है, नहीं। तब प्रश्न पूछना है कि यदि इन कार्यों को निषिद्ध घोषित किया है तो उनकी गर्हा क्यों नहीं की गई? यही कलिवर्ज्य की पहेली है। यह बिना गर्हा किए, किसी बात को निषिद्ध ठहराना ऐसी प्रक्रिया है जिसका पूर्व के समयों में कहीं पता नहीं। एक ही उदाहरण लें। आपस्तब धर्म-सूत्र अपनी सब संपत्ति एक मात्र ज्येष्ठ पुत्र को ही देने के विरुद्ध है। वह इसकी गर्हा करता है। ब्राह्मणों ने यह नई शैली क्यों अपनाई? निषिद्ध ठहराओ, किंतु गर्हा न करो? इस नई सड़क पर चलने का कुछ कारण तो होना चाहिए। वह कौन-सा कारण है?

मन्वन्तर क्या राजनीतिक व्यवस्था?

ब्राह्मणों का एक सिद्धांत था कि उनके देश का अनुशासन स्वर्ग-लोक से होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मन्वन्तर के मूल में यही विचारधारा काम करती रही है।

देश के राजनीतिक शासन से जिस चिंतन का संबंध है, वही मन्वन्तर विचारसरणी का मूल है। इस मान्यता का आधार यह विश्वास है कि संसार भर की राजसत्ता एक नगरपालिका के जिम्मे है, कुछ निश्चित समय के लिए। उस नगरपालिका का एक अफसर है, जो मनु कहलाता है। वह और उसके साथ सप्त (सात) ऋषिगण तथा एक इन्द्र स्वर्ग लोक में बैठे-बैठे देश के शासन का कारोबार चलाते हैं। वे इसकार्य में न देश के लोगों का सहयोग लेते हैं और न परामर्श। इस नगरपालिका का शासनकाल, इसके प्रधान शासक के मनु नाम के रहने से मन्वंतर कहलाता है। जब एक मनु का काल समाप्त हो जाता है, दूसरे मनु का कार्य आरंभ हो जाता है। जैसे युगों का चक्र चलता है, वैसे ही मन्वन्तरों का भी चक्र चलता है। चौदह मन्वन्तरों का एक चक्र होता है।

विष्णु पुराण ने हमें इन मंवंतरों के बारे में निम्नलिखित जानकारी दी है—

ब्रह्मा ने अपने आपको स्वयंभू मनु का रूप दिया, यह उसका मूलरूप ही था। इसका उद्देश्य था, जीवित प्राणियों का संरक्षण। उसने अपने ही स्त्रीलिंग स्वरूप को सतरूप का स्वरूप दिया। तपस्या ने उसे वैवाहिक अपवित्रता से पवित्र कर दिया था। तब स्वयंभु मनु ने उसे ही अपनी पत्नी बना लिया।

यहां जरा रुककर प्रश्न पूछा जा सकता है कि इसका क्या अर्थ है? क्या इसका यह अर्थ है कि ब्रह्मा उभय लिंगी था? क्या इसका यह मतलब है कि स्वयंभु मनु ने अपनी ही बहन से विवाह किया? जैसा विष्णु पुराण में लिखा है, यदि यही सत्य हो तो यह कितने आश्चर्य की बात होगी? आगे विष्णु पुराण का कथन है—

इन दोनों से दो लड़के पैदा हुए। उनके नाम थे प्रियव्रत और उत्तानपाद। दो लड़कियां भी हुईं, प्रसूति और अकुति। बड़ी सुंदर थीं और बड़ी पुण्यवाली। प्रसूति को उसने दक्ष को दे दी और अकुति दी कुल-पिता रुचि को। अकुति से रुचि को जुड़वे बच्चे हुए—यज्ञ और दक्षिणा, जो बाद में पति-पत्नी हो गए। फिर भाई-बहन की शादी? उसके बारह बच्चे हुए। ये यम नाम के देवता गण थे। ये सब स्वयंभू के मन्वन्तर में हुए।

"पहला मनु स्वयंभू था तब स्वरोचिश। तब औत्तमी। तब तमसार। तब रैवत। तब चक्षुष। ये छह मनु अब नहीं रहे। सातवें मन्वन्तर का जो मनु अधिष्ठाता है, जो वर्तमान काल का मनु है, वह वैश्व मनु है, सूर्य का पुत्र।"

"मैं अब स्वरोचिष मनु के देवता—अधिष्ठाता, ऋषि-गण और पुत्रों की चर्चा करूंगा। इस समय (द्वितीय मन्वन्तर) के देवता गण पर्वत और तुषित कहलाते थे। देवताओं का नरेश शक्तिशाली विपश्चित था। सप्त ऋषि थे उर्ज, स्तम्भ, प्रग, दत्तोलि, ऋषभ, निशाचर, अखरिवत, चैत्र, किम्पुरुष और दूसरे कई मनु के सुपुत्र थे।"

इसके आगे विष्णु पुराण के लेखक ने औत्तमिन मन्वन्तर (तीसरा) के देवतागणों के नामादि दिए हैं।...इसके बाद चौथा, पांचवां, छठा मनु विस्तृत रूप से चर्चित है।

बीते हुए सात मन्वन्तरों की विस्तृत चर्चा करने के अनन्तर विष्णु पुराण ने सात भावी मन्वन्तरों की भी चर्चा की है। सभी मन्वन्तरों की चर्चा से पाठक ऊब जाता है। तो भी मन्वन्तरों की गाथा ऐसी ही है। हम सर्वहारा (मजदूर वर्ग) की तानाशाही की बात करते हैं। ब्राह्मणों की मान्यता इसके सर्वथा विपरीत थी। यह स्वर्ग में रहने वाले पितृ-गण की सर्वहारा पर तानाशाही थी।

यह कुछ भी हो, जो प्रश्न रूप से किसी के भी मन में उपस्थित हो सकता है वह यह है कि एक दूसरे के बाद आने वाले ये चौदह मनु लोगों पर शासन करते हैं, वे कैसे करते हैं? एकमात्र मनुस्मृति ही इस शंका का समाधान कर सकती है। मनुस्मृति के पहले परिच्छेद में ही है—

"मनु एकाग्रचित्त विराजमान थे। बड़े-बड़े ऋषि मनु के पास पहुंचे। उन्होंने मनु की पूजा की और बोले—

"आप कृपा करके हमें चारों वर्णों और उन वर्णों के कर्तव्य बताइए।"

मनु ने उत्तर दिया—

"यह विश्व अंधकार की शक्ल में विद्यमान था। जैसे गहरी नींद में सोया हो।

"स्वयंभू मनु की नाना प्रकार के प्राणियों को जन्म देने की इच्छा हुई तो उसने पहले पानी को उत्पन्न किया और बाद में उसमें बीज डाला।

"वह बीज एक अण्डे की शक्ल में परिवर्तित हो गया। वह मनु स्वयं लोक के जनक के रूप में उस अण्डे में पैदा हुआ।

"तब मैंने उत्पन्न प्राणियों को उत्पन्न करने की इच्छा से अनेक कठिन तप किए। तदनंतर दस ऋषियों को जन्म दिया। वे उत्पन्न सृष्टि के स्वामी थे। दस ऋषियों के नाम थे—मरीचि, अत्रि, अंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेतस, वशिष्ट, भृगु और नारद।

"उसने पवित्र नियमों की संस्थाएं बनाकर उनका शिक्षण किया फिर केवल मुझे ज्ञान दिया तब मैंने मारीचि तथा अन्य ऋषियों को ज्ञान दिया।

"भृगु तुम्हें इन नियमों का संपूर्ण परिचय कराएगा क्योंकि उसने सभी नियम मुझसे ही सीखे हैं।"

इससे स्पष्ट होता है कि अकेले मनु ने ही सभी नियम बनाए। वह मनु था स्वयंभू मनु। विष्ण पुराण के कथनानुसार हर मन्वन्तर का अपना-अपना मनु था। उन सब मनुओं ने अपने-अपने मन्वन्तर के लिए नियम क्यों नहीं बनाए? क्या मनु के ही बनाए नियम सदैव के लिए थे? यदि ऐसी बात थी तो ब्राह्मणों ने पृथक-पृथक मन्वन्तरों की रचना क्यों की?

इतिहास ने बहुत-सी शासन पद्धतियों को जाना है—राजतंत्र, कुलीनतंत्र, प्रजातंत्र। उन्हीं में एक स्थान तानाशाही को भी दिया जा सकता है।

इस समय जो शासन-पद्धति सर्वाधिक प्रचलित है, वह है प्रजातंत्र! लेकिन इस बारे में कोई सहमति नहीं है कि प्रजातंत्र क्या है? जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि इस बारे में दो मत हैं। एक मत है कि प्रजातंत्र एक शासन-पद्धति है। इस मत के अनुसार जहां लोग सरकार का चुनाव करते हैं, वहां उनकी प्रतिनिधि सरकार होती है, वहां मान लिया जाता है कि प्रजातंत्र है। उस दृष्टिकोण के अनुसार प्रजातंत्र प्रतिनिधि सरकार का पर्याय है, जिसका मतलब है बालिक लोगों का वोट देना और समय पर चुनाव होना।

एक दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार प्रजातंत्र एक शासन तंत्र की अपेक्षा बहुत कुछ अधिक है। यह समाज-व्यवस्था का एक रूप है। एक प्रजातन्त्रात्मक समाज-रचना में दो बातों का होना आवश्यक है। पहली बात तो यही कि समाज को वर्णों के अनुसार भिन्न-भिन्न स्तरों से विभक्त नहीं होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि व्यक्ति और समूहों को इसकी आदत होनी चाहिए कि स्वार्थों के लेन-देन का ध्यान कर लगातार आपसी ताल-मेल बैठा सकें।

जहां तक पहली बात है, यह बात निर्विवाद है कि यह प्रजातंत्र का एक आवश्यक अंग है। एक प्रजातंत्रात्मक समाज के लिए दूसरी शर्त भी उतनी ही आवश्यक है।

प्रजातंत्र के बारे में यह जो दो मत व्यक्त किए गए हैं उनमें से एक यदि गलत नहीं है तो भी बहुत हलका है। यदि वह समाज जिसके लिए प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था की रचना हुई, अपनी रचना और व्यवस्था में स्वयं प्रजातंत्रात्मक नहीं है तो वहां प्रजातन्त्रात्मक सरकार चल नहीं सकती। जो लोग समझते हैं कि चुनावों का ही नाम प्रजातंत्र है, तीन तरह की गलती करते हैं।

एक गलती तो वह यह करते हैं कि वे विश्वास करते हैं कि सरकार और समाज एक दूसरे से स्पष्ट तौर पर सर्वथा पृथक होते हैं। यथार्थ बात तो यह है कि सरकार समाज से स्पष्ट रूप से पृथक होती ही नहीं। सरकार उन बहुत-सी संस्थाओं में से एक होती है, जिन्हें समाज अस्तित्व में लाता है और जिस पर कुछ ऐसे कर्तव्यों को संपन्न करने की जिम्मेदारी डालता है जिनका किया जाना सामूहिक सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक होता है।

जो दूसरी गलती वे करते हैं वह उनके इस बात को न समझ सकने से उत्पन्न होती

है कि सरकार में समाज की आकांक्षाओं, आदर्शों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। और यह तभी संभव है जब वह समाज जिसमें उस सरकार की जड़ें हों, प्रजातन्त्रात्मक हो। यदि समाज प्रजातन्त्रात्मक नहीं है तो सरकार कभी भी प्रजातंत्रात्मक नहीं हो सकती। जहां समाज शासनकर्ता और शासित के दो संवर्गों में बंटा हुआ है तो वहां की सरकार शासक-वर्ग की ही सरकार होगी।

तीसरी गलती जो वे करते हैं वह यह भूल जाते हैं कि सरकार का अच्छा या बुरा होना प्रजातंत्रात्मक या अप्रजातन्त्रात्मक होना बहुत हद तक उन माध्यमों पर निर्भर करता है जैसे भारतीय सेवा आयोग, जिन पर कानून को लागू करने के लिए हर सरकार को निर्भर रहना पड़ता है। यदि सामाजिक वातावरण अप्रजातन्त्रात्मक होगा, तो सारी सरकार भी अप्रजातन्त्रात्मक होगी।

एक और भी गलती है जिसके कारण लोग यह समझने लगे हैं कि प्रजातन्त्रात्मक शासन होने मात्र से सामाजिक अवस्था प्रजातंत्रात्मक हो जा सकती है। यह एक गलती है, इस बात को हृदयङ्गम करने के लिए पहले यह समझना जरूरी है कि कैसी सरकार को अच्छी सरकार कहते हैं।

अच्छी सरकार का मतलब है, अच्छे कानून और अच्छा अनुशासन। यही अच्छी सरकार का सार है। और कुछ हो भी नहीं सकता। अब इन अर्थों में कोई भी सरकार अच्छी सरकार नहीं हो सकती जब तक कि शासक वर्ग के लोग अपने ही लोगों का हित साधते रहेंगे और सर्वसाधारण तथा दलित-वर्ग के लोगों के हित में विशेष रूप से कुछ भी न करेंगे।

प्रजातंत्र शासन-व्यवस्था लोगों का कल्याण कर सकेगी या नहीं, इस बात पर निर्भर करेगा कि जिन व्यक्तियों से वह समाज निर्मित है, वे व्यक्ति कैसे हैं? यदि उन व्यक्तियों की मानसिक प्रवृत्ति प्रजातन्त्रात्मक होगी तो प्रजातन्त्रात्मक सरकार एक अच्छी सरकार हो सकती है। यदि नहीं तो प्रजातन्त्रात्मक सरकार बड़ी आसानी से खतरनाक ढंग की सरकार सिद्ध हो सकती है। यदि किसी समाज के व्यक्ति वर्गों में विभक्त हो जाते हैं और भिन्न-भिन्न वर्ग एक दूसरे से दूर रहते हैं और हर व्यक्ति यही सोचता है कि किसी दूसरे के प्रति वह वफादार रहे या न रहे, उसे अपने वर्ग के प्रति वफादार रहना चाहिए तो वह वर्गों के कटघरे में रहता हुआ वर्ग चेतनामय हो जाता है। वह किसी दूसरे के हित की चिंता न कर अपने वर्ग के हित की बातें ही सोचता रहता है, वह अपने वर्ग के स्वार्थों का हित साधने के लिए कानून तथा न्याय तक को विकृत कर देता है। वह इस मतलब के लिए व्यवस्थित ढंग से लोगों को हानि पहुंचाने का प्रयास करता रहता है। तो ऐसी हालत में प्रजातन्त्रात्मक सरकार भी क्या कर सकती है? एक ऐसे समाज में जहां वर्ग-संघर्ष होता है और असामाजिक भावनाओं तथा आक्रामक प्रवृत्ति का राज्य रहता है, सरकार आसानी से किसी के प्रति भी न्याय कर ही नहीं सकती। ऐसे समाज में भले ही कोई सरकार बाहरी दिखावे के लिए लोगों की हो और लोगों के द्वारा भी हो तब भी वह

लोगों के लिए नहीं हो सकती। यह वर्ग-विशेष के लिए वर्ग-विशेष की सरकार होगी। लोगों के लिए किसी सरकार की स्थापना तभी हो सकती है, जब प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति प्रजातांत्रिक हो। इसका मतलब है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति को अपने बराबर का समझे और उसे अपने लिए जितनी स्वतंत्रता चाहिए, उतनी ही स्वतंत्रता दूसरे को देने के लिए तैयार हो। ऐसी प्रजातांत्रिक वृत्ति तभी पैदा हो सकती है जब एक प्रजातांत्रिक सरकार की प्रथम आवश्यकता है प्रजातांत्रिक समाज। अनेक प्रजातांत्रिक सरकारें इसी लिए लड़खड़ा गई हैं क्योंकि जिस समाज के लिए वे स्थापित हुईं वह समाज प्रजातांत्रिक नहीं था।

दुर्भाग्य से इस बात की ओर लोगों का ध्यान ही नहीं गया कि प्रजातांत्रिक सरकार का अस्तित्व लोगों की मानसिक तथा नैतिक चित्त-प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। प्रजातंत्र मात्र राजनीतिक मशीन नहीं है। यह एक सामाजिक क्रमविकास से भी अधिक है। यह एक मानसिक प्रवृत्ति है, बल्कि जीवन-दर्शन है।

कुछ लोग प्रजातंत्र को बराबरी और स्वतंत्रता के बराबर समझते हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्रजातंत्र का बराबरी और स्वतंत्रता से अत्यंत निकट का संबंध है। लेकिन बड़ा प्रश्न है कि बराबरी और स्वतंत्रता का आधार क्या है? क्या कुछ लोगों का कहना है कि राज्य का कानून बराबरी और स्वतंत्रता का संरक्षण करता है। यह उत्तर ठीक नहीं है। बराबरी और स्वतंत्रता का आधार है संवेदनशीलता, भातृत्व की भावना। फ्रांस की राज्यक्रांति ने इसे बंधुत्व कहा है। बंधुत्व शब्द योग्य अभिव्यक्ति नहीं है। ठीक शब्द बुद्ध की देन है—मैत्री। मैत्री नहीं होगी तो स्वतंत्रता समानता को नष्ट कर देगी। यदि प्रजातंत्र में स्वतंत्रता बराबरी को नष्ट नहीं करती और बराबरी स्वतंत्रता को नष्ट नहीं करती, तो इसका कारण है कि दोनों के मूल में भ्रातृ-भावना है, बंधुत्व है। इसीलिए बंधुत्व ही प्रजातंत्र का मूलाधार है।

अभी तक जो चर्चा हुई वह एक प्रकार से मुख्य प्रश्न की भूमिका मात्र थी। प्रश्न है कि जिस बंधुत्व की भावना के बिना प्रजातंत्र निराधार हो जाता है, उस बंधुत्व की भावना का मूल कहां है? विवाद के लिए गुंजायश ही नहीं। इसका मूलाधार धर्म है।

प्रजातंत्र के मूल की अथवा इसके कार्यान्वित होने की संभावना या असंभावना पर विचार करते हुए आदमी को लोगों के धर्म का विचार करना ही होगा—क्या यह बंधुत्व सिखाता है, क्या यह नहीं सिखाता? यदि यह सिखाता है तो इसकी पूरी संभावना है कि जनतांत्रिक सरकार सफल हो सके। यदि नहीं, तो सफलता की बहुत कम संभावना है। हां, यह संभव है कि दूसरे कारण हों, जिनसे संभावना प्रभावित हो सके। लेकिन यदि बंधुत्व ही नहीं है तो फिर प्रजातंत्र के लिए कुछ भी तो सहारा नहीं है। भारत में प्रजातंत्र का विकास क्यों नहीं हुआ? यह मुख्य प्रश्न है। उत्तर बहुत ही सरल है। हिंदू-धर्म बंधु-भाव की शिक्षा ही नहीं देता। उसके स्थान पर वह समाज के विभाजन की शिक्षा देता है, वर्गों में। ऐसे संविधान में प्रजातंत्र के लिए स्थान है ही कहां?

यह अकस्मात् ही ऐसा नहीं हो गया कि हिंदुओं की सामाजिक रचना अप्रजातांत्रिक हो गई है। यह सोच-समझकर अप्रजातांत्रिक बनाई गई है। इसका विभाजन वर्णों में, जातियों में और फिर जातियों का भी जाति-बहिष्कृतों में। ये केवल सिद्धांत नहीं हैं, ये डिग्रियां हैं, ये हुकुमनामे हैं। ये सब प्रजातंत्र के विरुद्ध खड़ी की गई दीवारें हैं।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे हिंदुओं के धर्म और दर्शन का बंधुत्व के सिद्धांत से कभी कुछ भी परिचय नहीं रहा। लेकिन ऐतिहासिक घटनाएं इस बात का समर्थन नहीं करतीं। हिंदू धर्म और दर्शन ने एक ऐसे विचार को जन्म दिया है जिसमें बंधुत्व के विचार की भी अपेक्षा सामाजिक प्रजातंत्र को पनपाने के लिए अधिक संभावनाएं रहीं। यह ब्रह्मवाद का सिद्धांत है।

इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात न होगी यदि कोई पूछ बैठे कि यह ब्रह्मवाद क्या है? यह हिंदुओं के लिए भी नवीन मान्यता है। वेदांत से हिंदुओं का परिचय है। वे ब्राह्मणवाद से भी परिचित हैं। लेकिन असंदिग्ध रूप से वे ब्रह्मवाद से परिचित नहीं। आगे बढ़ने से पहले कुछ शब्दों में बात समझाना आवश्यक है।

हिंदुओं के दार्शनिक और धार्मिक चिंतन को हम तीन दिशाओं में अग्रसर देखते हैं। उनके नाम लेने हों तो (1) ब्रह्मवाद, (2) वेदांत, (3) ब्राह्मणवाद। यद्यपि वे परस्पर संबंधित हैं, तो भी वे सर्वथा भिन्न तीन मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

ब्रह्मवाद का सार इस मिथ्यामान्यता से आबद्ध है, जिसके तीन रूप हैं–

1. सर्वं खलु इदम् ब्रह्म (यह सब ब्रह्म है)।
2. अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूं)।
3. तत् त्वमसि (वह ब्रह्म तू ही है)।

ये सब महावाक्य कहलाते हैं, जिसका मतलब है–महान्-कथन। इनमें ब्रह्मवाद का सार दिया हुआ है।

ये कुछ दुराग्रह हैं जो वेदांत मत का सार हैं–

1. ब्रह्म ही यथार्थ सत्ता है।
2. विश्व माया है, अवास्तविक है।
3. (क) एक मत के अनुसार जीव और ब्रह्म एक ही हैं।

(ख) दूसरे के अनुसार एक ही तो नहीं हैं, लेकिन उसी का अंश हैं और उससे पृथक नहीं हैं।

(ग) तीसरे मत के अनुसार वे स्पष्ट रूप से पृथक-पृथक हैं।

ब्राह्मणवाद का मिथ्यात्व इन वाक्यों में समाया हुआ है–

(i) चातुर्वर्ण में विश्वास।

(ii) वेद पवित्र हैं और निर्भान्त हैं।

(iii) देवताओं को बलि देना मुक्ति का एक मात्र मार्ग है।

बहुत से लोग वेदांत और ब्राह्मणवाद में भेद कर सकते हैं और उनमें जो विवाद है

उससे परिचित हैं। लेकिन बहुत कम लोग ब्रह्मवाद और वेदांत के अंतर को समझते हैं। हिंदू लोग भी ब्रह्मवाद और वेदांत के बीच के अंतर को नहीं समझते। लेकिन भेद स्पष्ट है। ब्रह्मवाद और वेदांत दोनों मानते हैं कि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। लेकिन इस बारे में दोनों का मत विभिन्न है। ब्रह्मवाद विश्व को अवास्तविक नहीं मानता, वेदांत अवास्तविक मानता है। दोनों में बड़ा अंतर है।

ब्रह्मवाद का सार है कि विश्व वास्तविक है और विश्व के पीछे जो वास्तविकता है, वही ब्रह्म है। इसलिए सभी कुछ ब्रह्ममय है।

ब्रह्मवाद के विरुद्ध दो आपत्तियां उठाई जाती हैं। कहा जाता है कि ब्रह्मवाद निर्लज्जता की हद है। किसी आदमी के लिए अपने बारे में यह कहना कि 'मैं ब्रह्म हूं', ढीठपन है। ब्रह्मवाद के विरुद्ध दूसरी आपत्ति है कि आदमी ब्रह्म को जान ही नहीं सकता। 'मैं ब्रह्म हूं' कहना किसी हद तक आदमी का ढीठपन हो सकता है, लेकिन साथ ही यह आदमी की अपनी योग्यता की घोषणा भी तो हो सकता है। इस संसार में जहां इतने आदमी न्यून-गण्ड से कष्ट पा रहे हैं, आदमी की ओर से की जानेवाली इस प्रकार की घोषणा स्वागतार्ह है। प्रजातंत्र का तकाजा है कि हर आदमी को अपनी योग्यता सिद्ध करने का पूरा अवसर मिलना चाहिए। यह यह भी मांग करता है कि हर आदमी को यह जानकारी हो कि वह उतना ही अच्छा है, जितना दूसरे लोग अच्छे हैं। जो अहम् ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूं) वाक्य पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, वे भूल जाते हैं कि दूसरा महावाक्य है—तत् त्वमसि (तू ब्रह्म है)। यदि अहम् ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूं) अकेला ही होता तो इस पर नाक-भौं सिकोड़ी जा सकती थी। लेकिन अब जब उसके साथ तत् त्वमसि (तू ब्रह्म है) दूसरा वाक्य लगा है तो पहले वाक्य पर ढीठपन का आरोप लगाना गलत है।

यह बात सही हो सकती है कि ब्रह्म अज्ञेय है। लेकिन इसके साथ ही यह जो 'ब्रह्म' का सिद्धांत है, इसके साथ एक ऐसी सामाजिक मान्यता जुड़ी हुई है कि प्रजातंत्र की नींव के रूप में इसका अनंत मूल्य है। यदि सभी आदमी ब्रह्म का हिस्सा हैं तो सभी बराबर हैं और सभी को एक जैसी स्वतंत्रता का उपयोग करने पर 'ब्रह्म' अज्ञेय हो सकता है। लेकिन, इसमें तनिक भी शक नहीं कि प्रजातंत्र के लिए जितनी अच्छी नींव ब्रह्म का सिद्धांत सिद्ध हो सकता है, उतना दूसरा कोई नहीं।

'हम परम् पिता परमात्मा के पुत्र हैं, इसलिए हम प्रजातंत्र को मानें' यह प्रजातंत्र के लिए कोई पक्की नींव नहीं है। इसीलिए जहां-जहां इसका आधार ऐसी कच्ची नींव रहा है, वहां-वहां यह इतनी डांवाडोल रही है। लेकिन इस बात की जानकारी हो जाना और इसका साक्षात् भी हो जाना कि मैं और तुम एक ही ब्रह्माण्ड के अंश हैं, जनतंत्र के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार के सामाजिक जीवन के लिए जगह नहीं छोड़ता। यह केवल जनतंत्रवाद का प्रवचन नहीं है। यह प्रजातंत्र को सभी के लिए करणीय ठहराता है।

जनतंत्र-वाद के विदेशी विद्यार्थियों ने इस विश्वास को प्रचारित किया है कि जनतंत्रवाद या तो ईसाइयत से पनपा है या प्लेटो से। और इन्हें छोड़ प्रजातंत्र-वाद के पक्ष

में और कोई प्रेरणा-स्रोत ही नहीं है। यदि वे जानते कि भारत में भी ब्रह्मवाद के सिद्धांत का विकास हुआ है और वह प्रजातंत्रवाद के लिए ज्यादा अच्छा आधार है, तो वे ऐसे दुराग्रही न होते। यह स्वीकार करना चाहिए कि प्रजातंत्रवाद के लिए एक सैद्धांतिक नीव उपस्थिति करने में भारत की भी बड़ी देन है।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि 'ब्रह्मवाद' के इस सिद्धांत का क्या हुआ? यह प्रकट ही है कि ब्रह्मवाद का कुछ भी सामाजिक प्रभाव नहीं पड़ा। इसे धर्म का आधार नहीं बनाया गया। यह पूछे जाने पर कि ऐसा कैसे हुआ? यही उत्तर मिलता है कि ब्रह्मवाद केवल दर्शन है और मानों कि दर्शन का जन्म सामाजिक जीवन में से नहीं होता, बल्कि अभाव में से उत्पन्न होता है और किसी के लिए उत्पन्न नहीं होता। दर्शन भी कोई सैद्धांतिक मामला नहीं है। उसका व्यावहारिक पक्ष है। दर्शन की जड़ जीवन की समस्याओं में निहित रहती है। दर्शन किन्हीं भी सैद्धांतिक बातों का प्रतिपादन करे, उसे समाज की पुनर्रचना के लिए समाज के पास आना ही पड़ेगा। केवल जानना ही पर्याय नहीं है। जो जानते हैं उन्हें पूर्ति भी करनी पड़ेगी।

तो ब्रह्मवाद एक नया समाज क्यों नहीं स्थापित कर सका? यह एक बड़ी पहेली है। ऐसा नहीं है कि ब्राह्मणों ने ब्रह्मवाद के सिद्धांत को अंगीकार न किया हो। उन्होंने किया। लेकिन उन्होंने अपने आप से यह कभी नहीं पूछा कि ब्राह्मण और शूद्र में, आदमी और औरत में, जाति के आदमी और जाति-बहिष्कृत आदमी में जो भेद किए जाते हैं, वे उनका समर्थन कैसे कर सकते हैं? उन्होंने अपने से यह प्रश्न पूछा ही नहीं। इसका परिणाम हुआ कि एक ओर तो ब्रह्मवाद का सर्वाधिक जनतांत्रिक सिद्धांत विद्यमान है और दूसरी ओर वह समाज है जो कि जातियों से, उपजातियों से, अछूतों से, आदिम वासियों से तथा जुर्म-पेशा लोगों से लदा पड़ा है। क्या इससे बढ़कर भी कोई पहेली हो सकती है? और यह कितना बड़ा मजाक है कि जिस शंकराचार्य ने यह शिक्षा दी कि ब्रह्म है, और कि यह ब्रह्म वास्तविक है और कि यह ब्रह्म सर्व व्यापक है उसी ने समाज में व्याप्त सभी असमानताओं का समर्थन किया। कोई पागल ही ऐसी दोनों विरोधी बातों का समर्थक हो सकता है? सचमुच एक ब्राह्मण गौ की तरह ही है, जो हर अच्छी-बुरी चीज खाकर भी ब्राह्मण बना रहता है।

कलियुग : अनंत क्यों?

यदि कोई ऐसी मान्यता है जो हिंदुओं में बहुत फैली है, जिसे हर स्त्री-पुरुष समझता है, प्रौढ़ हो या बूढ़ा हो, बालिग हो, नाबालिक हो, यह कलियुग की मान्यता है। सभी जानते हैं वर्तमान युग कलियुग है और वे कलियुग में जी रहे हैं। कलियुग की मान्यता का लोगों के मन पर बुरा असर पड़ता है। इसका मतलब है कि यह अशुभ समय है। यह अनैतिक युग है। यह ऐसा युग है जिसमें आदमी का प्रयास निष्फल जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम पता लगाएं कि ऐसी मान्यता कैसे पैदा हुई? वास्तव में ऐसी चार बातें हैं, जो स्पष्ट होनी चाहिए। वे हैं–(1) कलियुग क्या हैं? (2) कलियुग कब आरंभ हुआ? (3) कलियुग कब समाप्त होगा? (4) और इस प्रकार का विश्वास लोगों में क्यों पैदा किया गया?

पहली बात से ही आरंभ करें। इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए यह अच्छा होगा कि हम कलियुग शब्द के दो हिस्से कर लें और दोनों के बारे में पृथक-पृथक विचार करें। युग का क्या मतलब है? ऋग् वेद में 'युग' शब्द आता है। वह समय का पर्याय है।....अनेक प्रयास हुए हैं यह जानने के लिए कि वैदिक लोग जब 'युग' शब्द का प्रयोग करते थे, तो उनका अभिप्राय कितने समय से होता था? युग शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'युज' से हुई है। 'युज' का मतलब है 'जोड़ना'। संभावना इस बात की है कि प्रचीनतम समय में 'युग' से अभिप्राय एक महीने का समय रहा हो। एक महीने में चन्द्रमा तथा सूर्य का जुड़ना होता है।

'युग' शब्द के अर्थ निश्चित करने के कितने भी प्रयास हों, उनसे यह निश्चित नहीं होता कि वैदिक लोग जब इस 'युग' शब्द का प्रयोग करते थे, तो उन्हें कितना समय अभिप्रेत होता था? वैदिकों से भिन्न वेदाङ्गज्योतिष के पण्डित 'युग' शब्द का प्रयोग पांच वर्षों के समय के लिए करते रहे हैं। इन पांचों वर्षों को नाम दिए गए थे–(1) संवत्सर, (2) परिवत्सर, (3) इदवत्सर, (4) अनुवत्सर तथा (5) वत्सर।

'कलि' को लें तो वह कृत, त्रेता, द्वापर और कलि चार युगों का एक-एक चक्र होता है। तो 'कलि' शब्द का मूल क्या है? कृत, त्रेता, द्वापर और कलि, ये चारों शब्द तीन भिन्न-भिन्न प्रकरणों में प्रयुक्त हुए हैं। 'कलि' और दूसरे तीनों शब्दों का भी प्राचीनतम

योग पासे के खेल में होता था। पासे की चारों दिशाओं में चार संख्याएं रहती थीं। जिस तरफ 4 की संख्या लिखी रहती थी, वह कृत, तीन की संख्या वाली तरफ त्रेता, दो की संख्या वाली तरफ द्वापर, और 1 की संख्या वाली की तरफ कलि।

कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ये चारों शब्द गणित में भी प्रयुक्त होते थे।

शामशास्त्री ने इन ही शब्दों के एक दूसरे अर्थ में प्रयुक्त होने की भी बात लिखी है। उन्हें पर्व का पर्याय कहा गया है, जैसे कृत पर्व, त्रेता पर्व, तथा कलि पर्व। 13 दिन या तिथियों का समूह पर्व कहलाता है। इसी का दूसरा नाम पक्ष भी है।

एक समय कलि, और युग शब्द किन्हीं अर्थों में भी प्रयुक्त होते रहे हों, इस समय चिरकाल से कलियुग समय की मात्रा की बोध कराने के लिए ही प्रयुक्त हो रहा है। हिंदुओं की मान्यता के अनुसार चार-चार युगों का चक्र है, जिसमें कलियुग भी एक चक्र है। दूसरे युग कृत, त्रेता और द्वापर कहलाते हैं।

(2)

वर्तमान कलियुग कब आरंभ हुआ? इस एक ही प्रश्न के दो उत्तर दिए गए हैं।

ऐत्तरेय्य ब्राह्मण के अनुसार वैवस्वत मनु के पुत्र नमनेदिष्ट के साथ आरंभ हुआ। पुराणों के अनुसार कलियुग महाभारत की लड़ाई के अनंतर कृष्ण की मृत्यु से आरंभ हुआ।

कलियुग के आरंभ की पहली घटना डॉ. शामशास्त्री के हिसाब से 3101 ई. पू. में घटी। दूसरी श्री गोपाल अय्यर के मत के अनुसार अक्तूबर महीने के 14 तारीख को महाभारत युद्ध आरंभ हुआ और 1194 ई. पू. की 31 अक्तूबर की रात को समाप्त हो गया। उनका मत है कि युद्ध की समाप्ति के 16 वर्ष बाद कृष्ण की मृत्यु हुई। इस प्रकार कलियुग का आरंभ 1177 ई. पू. में संपन्न हुआ।

हमारे सामने कलियुग के आरंभ को लेकर दो भिन्न-भिन्न तिथियां उपस्थित हैं–3101 ई. पू. और 1177 ई. पूर्व।

(3)

गर्गाचार्य ने अपने सिद्धांत में अशोक के बाद चौथे गद्दी पर बैठे सालिसुक मौर्य की चर्चा की है। उसके हिसाब से कलियुग की समाप्ति 165 ई. पू. को ठहरती है।

अब स्थिति यह है कि ज्योतिषियों के अनुसार तो कलियुग समाप्त हो गया, लेकिन वैदिक ब्राह्मण उसे अभी भी असमाप्त बनाए हुए हैं। यह बात उस संकल्प से स्पष्ट है जिसे प्रत्येक हिंदू आज भी अपने हर एक धार्मिक पूजा-पाठ के अवसर पर दोहराता है।

तो प्रश्न है कि वैदिक ब्राह्मण आज भी कलियुग को कैसे और क्यों असमाप्त बनाए हुए हैं? उनकी दृष्टि में आज भी कलियुग क्यों जारी है? पहले हम यही निश्चय करें कि

कलियुग का परंपरागत समय कितना है। विष्णु पुराण का लेख है–

पहले तो हर युग के आरंभ और अवसान के समय संध्या और सन्ध्यांश नाम के दो-दो काल-परिच्छेदों को उनके साथ जोड़ दिया गया है। विष्णु पुराण में वही लिखा है–

"किसी भी युग के आरंभ होने से पूर्व का समय संध्या कहलाता है और जो समय किसी भी युग की समाप्ति के साथ जुड़ा हुआ है संध्यांश कहलाता है। वह उतना ही लंबा होता है। इन संध्यांओं और सन्ध्यांशों के बीच का समय युग कहलाता है, जैसे कृत-युग, त्रेता-युग, द्वापर-युग और कलियुग।"

यह संध्या और संध्यांशों का समय कितने-कितने वर्ष का होता था? क्या यह सभी युगों के लिए समान होता था, या यह एक-एक युग के साथ बदलता था? संध्या और संध्यांशों के काल-परिच्छेद की सीमा समान न थी। वह प्रत्येक युग के साथ बदलती थी।

कृतयुग का समय है 4 हजार वर्ष, संध्या और संध्यांश का समय 800 वर्ष, कुल चार हजार आठ सौ वर्ष। त्रेता युग का समय है तीन हजार वर्ष, संध्या और सन्ध्यांश का समय छह सौ वर्ष, कुल तीन हजार छह सौ वर्ष। द्वापर का समय है दो हजार वर्ष, संध्या और सन्ध्यांश का समय चार सौ वर्ष, कुल दो हजार चार सौ वर्ष। कलियुग का समय एक हजार वर्ष, संध्या और संध्यांश का समय दो सौ वर्ष, कुल एक हजार दो सौ वर्ष।

जो कलियुग पहले केवल एक हजार वर्ष का था उसमें संध्या और संध्यांश का समय जोड़कर अब 1200 वर्ष का बना दिया गया।

एक दूसरी चतुराई की गई। यह कहा गया कि कलियुग की जो वर्ष संख्या है, वह दैवी वर्षों की संख्या है, मानवी वर्षों की नहीं। वैदिक ब्राह्मणों के अनुसार एक दैवी दिन एक मानवी वर्ष के बराबर था अर्थात् जो कलियुग पहले केवल 1200 वर्ष का माना जाता था, अब वह वास्तव में 1200 × 360 वर्ष का अथवा 432000 वर्ष का हो गया। इन दो तरीकों से वैदिक ब्राह्मणों ने कलियुग की जो आयु केवल एक हजार वर्ष मानी जाती थी, उसे बढ़ाकर 432000 वर्ष कर दिया । अब इसमें क्या रुकावट है कि कलियुग आज भी जारी है और लाखों वर्ष तक जारी रहेगा।

(4)

अब कलियुग काहे के लिए है? कलियुग का मतलब है अधर्मयुग, नैतिक अधःपतन का काल और एक ऐसा समय जब राजा द्वारा बनाए गए नियमों का उल्लंघन ही किया जा सकता है। एक प्रश्न तुरंत पैदा होता है? अपने पूर्व के युगों से कलियुग क्यों अधिक पतित रहा है और है? इस कलियुग से पहले के युग में या इससे भी और पहले के युगों में आर्यों की नैतिक स्थिति क्या थी? यदि कोई भी बाद के आर्यों की नैतिक स्थिति की तुलना उन प्राचीन आर्यों से करेगा तो उसे लगेगा कि जैसे कोई सामाजिक क्रांति हो गई है।

वैदिक आर्यों के धर्म में बर्बरता भरी हुई थी और भरमार थी अश्लीलता की भी। नरबलि देना भी उनके धर्म का अंश था और उसे नरमेधयज्ञ का नाम दिया गया था। यजुर्वेद संहिता, युजुर्वेद ब्राह्मण ग्रंथों में, संख्यान तथा वैतान सूत्रों में उनके क्रिया-कलापों के अत्यंत विस्तृत वर्णन भरे पड़े हैं। लिंग-पूजा प्राचीन आर्यों में घर-घर प्रचलित थी। लिंग-पूजा की प्रक्रिया को 'स्कंभ' नाम दिया गया और वह आर्य धर्म का एक हिस्सा मानी गई। अथर्ववेद 8-7 इसका साक्षी है। अश्लीलता का दूसरा भद्दा उदाहरण, जिसने प्राचीन आर्यों के धर्म को कुरूप बना दिया, अश्वमेध यज्ञ संबंधी है। अश्वमेघ यज्ञ की विधि का एक आवश्यक अंग था—घोड़े के लिंग को यज्ञ कराने वाले यजमान की मुख्य पत्नी के भग में प्रवेश कराना। उस समय ब्राह्मण लंबे-लंबे वेद-मंत्रों का उच्चारण करते रहते थे। वाजसनेय्य-संहिता के एक मंत्र से यह बात स्पष्ट होती है कि रानियों में उसके लिए होड़ लगती थी कि घोड़े के लिंग की प्रवेश-विधि का किसे योग्य पात्र माना जाए। इसके बारे में जो अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं वे यजुर्वेद पर जो महीधर के भाष्य हैं, उन्हें देखें। वहां इस कार्रवाई का विस्तृत वर्णन दिया गया है। यह कार्रवाई प्राचीन आर्य-धर्म का आवश्यक अंश बन गई थी।

जैसा गर्हित प्राचीन आर्यों का धर्म था, वैसी ही निंदनीय उनकी नीतिमत्ता थी। आर्यजन जुआरियों की एक जाति थे। आर्यों में जुआ कोई अमीरों का खेल नहीं था, बहुत लोग उस व्यसन में ग्रसित थे।

पुराने आर्यजन शराबियों की भी जाति के थे। पीना आर्यजनों का धार्मिक कर्तव्य था।

इससे आगे हम स्त्री-पुरुषों के बीच लैंगिक संबंधों का विचार कर सकते हैं। इतिहास क्या कहता है? आरंभ में विवाह को लेकर कोई भी कानून नहीं था। समाज के उच्चस्तरीय वर्ग और निम्नस्तरीय वर्ग में संपूर्ण स्वच्छंद संभोग की व्यवस्था थी। इस विषय में कहीं कोई विधि-निषेध नहीं था।

ब्रह्मा ने अपनी पुत्री सतरूपा से शादी की थी। पृथु वंश-परंपरा का संस्थापक मनु उनका पुत्र था। यह इक्ष्वाकुओं और एला के उत्थान के पहले हुआ था।

हिरण्यकश्यप ने अपनी पुत्री रोहिणी से विवाह किया था। शादियां एक सामान्य बात थीं, यह इससे भी प्रमाणित होता है कि इस प्रकार की पिता-पुत्री की शादी का दूसरा उदाहरण वशिष्ट और शतरूपा का है। जाह्नु और जाह्नवी का है, सूर्य और उषा का है। पिता और पुत्री की शादियों से उत्पन्न संतान को भी क्वाँरी-पुत्र कहकर मान्यता दी गई है। क्वाँरी-पुत्र का मतलब है अविवाहित पुत्रियों की संतान। कानूनी भाषा में वे लड़की के पिता की संतान थे। यह स्पष्ट ही है कि वे अपनी पुत्रियों से उत्पन्न, उन अविवाहित कन्याओं की ही संतान होंगे।

ऐसे भी उदाहरण हैं कि पिता और पुत्र एक ही स्त्री से संभोग करते थे। ब्रह्मा मनु का पिता था और शतरूपा उसकी माता थी। यही शतरूपा मनु की पत्नी भी थी। दूसरा उदाहरण श्रद्धा का है। वह विश्वस्त की पत्नी थी। उनका पुत्र मनु था। लेकिन श्रद्धा ही

मनु की पत्नी भी थी। इसका मतलब हुआ कि पिता और पुत्र एक ही स्त्री के हिस्सेदार थे। कोई चाहे तो वह अपने भाई की लड़की से भी शादी कर सकता था। धर्म ने दक्ष की दस बेटियों से शादी की। धर्म और दक्ष परस्पर भाई-भाई थे। कोई चाहे तो अपने चाचा की लड़की से भी शादी कर सकता था, जैसे कश्यप ने की। काश्यप की तेरह पत्नियां थीं। वे सभी दक्ष की सुपुत्रियां थीं। दक्ष कश्यप का पिता मरीचि का भाई था।

ऋग् वेद में जो यम और यमी का प्रकरण है वह भाई और बहन की शादी का एक नंबरी किस्सा है। उससे बहन और भाइयों के बीच हो सकने वाली शादियों पर प्रकाश पड़ता है। क्योंकि यम ने यमी के साथ संभोग करना अस्वीकार किया, इसे यह नहीं माना जा सकता कि इस प्रकार के शादी-विवाह नहीं होते थे।

महाभारत के आदि-पर्व में एक वंशावलि दी गई है, जो ब्रह्मदेव से आरंभ होती है। इस वंशावली के अनुसार ब्रह्म के तीन लड़के थे—मरीचि, दक्ष और धर्म। एक लड़की भी थी, दुर्भाग्य से जिसका नाम वंशावलि में नहीं है। उसी वंशावलि में लिखा है कि दक्ष ने ब्रह्मा की बेटी से शादी की है जो कि उसकी बहन थी। उसकी अनेक बेटियां थीं, जिनकी गिनती पचास और साठ तक पहुंचती है। भाई-बहनों की आपसी शादी के अन्य बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। वे हैं—पुशान और उसकी बहन अच्छोद तथा अमवसु। पुरुकुत्स और नर्मदा, विप्रचित्ति और सिंहिका, नहुष तथा बिरजु। शुक्र-उष्णास तथागो। अमुसमत तथा यशोदा, दशरथ और कौशल्या, राम और सीता, शुक और पिवरी, द्रौपदी और प्रस्ति—ये सभी भाई-बहन की शादियों के उदाहरण हैं।

ये आगे के उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि यदि कोई लड़का अपनी ही मां के साथ संभोग करना चाहता था तो उसे इसकी छूट थी। पूषण और उसकी मां का उदाहरण है, मनु और सतरूपा का उदाहरण है और मनु और श्रद्धा का उदाहरण है। दो दूसरे उदाहरणों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। अर्जुन और उर्वशी तथा अर्जुन और उत्तरा। अर्जुन के बेटे अभिमन्यु का उत्तरा के साथ, जब वह सोलह वर्ष का था, उसी समय विवाह हो गया था। उत्तरा अर्जुन से भी संबंधित थी। उसने उसे गाना और नाचना सिखाया था। उत्तरा के बारे में कहा जाता है कि उसे अर्जुन से प्रेम हो गया था। महाभारत का कहना है कि उनका विवाह भी हो गया था, जो प्रेम संबंध का स्वाभाविक परिणाम था। महाभारत ने स्पष्ट शब्दों में यह नहीं कहा कि उनका विवाह हो गया था। लेकिन, यदि हो गया हो तो अभिमन्यु के बारे में कहा जाएगा कि उसने अपनी मां से शादी कर ली थी। अर्जुन उर्वशी का प्रकरण एकदम स्पष्ट है।

इन्द्र अर्जुन का वास्तविक पिता था। उर्वशी इन्द्र की चहेती थी और इसलिए अर्जुन की मां के दर्जे की थी। वह अर्जुन की शिक्षिका थी। उसने अर्जुन को गाना और नाचना सिखाया था। उर्वशी का अर्जुन से प्रेम हो गया और अपने पिता की रजामंदी से वह अर्जुन के पास संभोग का प्रस्ताव लेकर पहुंची। अर्जुन का कहना था कि वह उसके लिए मां के सदृश थी और इसलिए उसने उर्वशी का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था। ऐतिहासिक

दृष्टि से अर्जुन की अस्वीकृति का इतना महत्त्व नहीं है, जितना उर्वशी के प्रस्ताव का। इसके दो कारण हैं। उर्वशी का अर्जुन से प्रस्ताव करना और इन्द्र की स्वीकृति इस बात के प्रमाण हैं कि उर्वशी अच्छी तरह से स्थापित आचार-पद्धति को अपना रही थी। दूसरी बात यह कि उर्वशी जब अर्जुन को जवाब देती है तो उसे स्पष्ट रूप से कहती है कि यह तो भली प्रकार प्रचलित अभ्यास है और कि अर्जुन के सभी पूर्वजों ने अपने मन में किसी भी तरह की पाप-चेतना के बिना इस तरह के प्रस्तावों को स्वीकार किया है।

कोई भी दूसरी कथा इस बात को इतना अधिक स्पष्ट नहीं करती कि प्राचीन भारत में संभोग के मामले में सरक्तता की सर्वथा उपेक्षा की जाती थी, जितना कि हरिवंश पुराण की यह कथा जो कि हरिवंश पुराण के ही दूसरे अध्याय में दी गई है। उसके अनुसार सोम दस पिताओं का पुत्र था। बहुपतित्व की प्रथा के अस्तित्व में होने का प्रमाण। हर पिता प्रल्हेता कहलाता था। सोम की एक बेटी थी, मारिषा। सोम के दस पिताओं ने और स्वयं सोम ने मारिषा के साथ संभोग किया। इसका मतलब है कि दस पितामहों ने तथा एक पिता ने भी एक ऐसी स्त्री से शादी की जो अपने पतियों की प्रपौत्री तथा पुत्री दोनों थी। उसी अध्याय में दक्ष प्रजापति की कथा दी गई है। सोम के पुत्र दक्ष प्रजापति के बारे में कहा गया है कि उसने अपनी 27 कन्याएं अपने पिता सोम को सन्तानोत्पत्ति के लिए दीं। हरिवंश के तीसरे अध्याय में लेखक ने लिखा है कि दक्ष ने अपने ही पिता ब्रह्म को अपनी ही कन्या विवाह करने के लिए दी। उससे उसे एक पुत्र हुआ, जो नारद नाम से अत्यंत प्रसिद्ध हुआ। ये सब सपिण्ड पुरुषों की सपिण्ड स्त्रियों से संभोग की कथाएं हैं।

प्राचीन आर्य स्त्रियों की बिक्री होती थी। विवाह की आर्ष पद्धति से लड़कियों की बिक्री का किया जाना प्रमाणित होता है। तांत्रिक शब्दावलि का उपयोग करना हो तो पिता गो-मिथुन देता था और कन्यादान लेता था। इसी बात को दोहराने का यह दूसरा तरीका है कि गो-मिथुन के लिए लड़की बिकती थी। गो-मिथुन का मतलब था एक गांव और एक बैल जो कि एक लड़की की योग्य कीमत समझा जाता था। अपनी लड़कियों को उनके पिता तो बेचते ही थे, अपनी पत्नियों को उनके पति भी बेचते थे। हरिवंश पुराण अपने 79वें अध्याय में कहता है कि जो पुरोहित संस्कार कराता है, एक पुण्यक-व्रत उसकी दक्षिणा होनी चाहिए। इसका कहना है कि ब्राह्मण-स्त्रियों को उनके पतियों से खरीदा जाए और ब्राह्मण-पुरोहितों को दक्षिणा के तौर पर दे दी जाएं। उससे यह सर्वथा स्पष्ट हो गया कि ब्राह्मण कीमत लेकर अपनी पत्नियों की बिक्री करते थे।

यह भी एक सचाई है कि प्राचीन आर्य अपनी स्त्रियों को संभोग के लिए किराए पर दे देते थे। महाभारत में अध्याय 103 से 183 तक माधवी का जीवन चरित्र दिया है। इस विवरण के अनुसार माधवी राजा ययाति की लड़की थी। ययाति ने उसे किसी को दी जाने वाली दक्षिणा के तौर पर गालव को सौंप दिया। गालव एक ऋषि था। उसने माधवी को तीन राजाओं को किराए पर दिया। एक राजा के बाद दूसरे राजा को। किंतु केवल उतने समय के लिए जितने समय में वह मां बन सके। तीनों राजाओं की बारी

हो चुकने पर गालव ने उसे अपने गुरु विश्वामित्र को सौंप दिया। विश्वामित्र ने उसे अपने पास रखा और बाद में उसे गालव को वापिस सौंप दिया। गालव ने उसे उसके पिता ययाति को सौंप दिया।

प्राचीन आर्य जनों में बहुपतित्व तथा बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित थी। यह बात इतनी अधिक प्रसिद्ध है कि इसे प्रमाणित करने के लिए किन्हीं घटना-विशेष का उल्लेख करना बेकार है। लेकिन जो बात उतनी ज्ञात नहीं है, वह है स्वच्छंद संभोग की। संभोग के संबंध में स्वच्छन्दता अनायास प्रकट हो जाती है, जब हम नियोग के नियमों का अध्ययन करते हैं। नियोग आर्यों की एक ऐसी व्यवस्था थी, जिसके अधीन कोई भी विवाहित स्त्री किसी भी ऐसे आदमी को जो उसका पति नहीं, संतानोत्पत्ति के निमित्त नियोग करने के लिए कह सकती थी। इस पद्धति का परिणाम हुआ संभोग को लेकर संपूर्ण स्वच्छदंता, क्योंकि यह अमर्यादित थी। पहली बात तो यह कि स्त्री मन चाहे नियोग कर-करा सकती थी। संख्या के विषय में कोई नियम था ही नहीं। मधूति के लिए एक ही नियोग था। अंबिका का एक नियोग वास्तविक था और दूसरा अभी प्रस्तावित था। सरदण्डमानी के लिए तीन नियोग थे। पण्डु ने अपनी पत्नी कुंती को चार नियोगों की अनुमति दी थी। व्युलिस्तव को सात नियोगों की अनुमति थी और बलि के बारे में जानकारी है कि उसने सत्रह नियोग कराए थे। ग्यारह नियोग पहली पत्नी से और छह नियोग दूसरी पत्नी से। जैसे नियोग करने वालों की संख्या के बारे में कोई नियम नहीं था, उसी प्रकार इसकी भी कोई निश्चित परिभाषा न थी कि नियोग की कौन अधिकारिणी है? नियोग पति के जीवन-काल में भी होता था, और ऐसी हालत में भी जब पति संतानोत्पत्ति के अयोग्य न हुआ हो। हो सकता है कि प्रस्ताव पत्नी के द्वारा ही होता हो। नियोग-कर्ता का चुनाव उसी का होता हो। उसे इस बात की स्वतंत्रता थी कि वह तय करे कि वह किसके साथ नियोग करेगी और कितनी बार करेगी? आदमी और औरत के बीच जो निषिद्ध संभोग हो सकता था, उसी का दूसरा नाम नियोग था, जो एक रात के लिए हो सकता था और जो बारह वर्ष के लिए भी चालू रह सकता था और जिसमें उसका पति भी मौन सहयोगी माना जा सकता था।

प्राचीन आर्यजनों के समाज की यही नैतिकता थी और ऐसे ही रीति-रिवाज थे। ब्राह्मणों का नैतिक स्तर कैसा था? सत्य बात कहनी हो तो वे भी वैसे ही थे, जैसे अन्य सामान्य जन। ब्राह्मणों में भी जो नैतिक शिथिलता थी, उसके बहुत से नमूने पेश किए जा सकते हैं। कुछ नमूनों का देना ही पर्याप्त होगा। ऐसे उदाहरण कि ब्राह्मण अपनी पत्नियों को बेचा करते थे, ऊपर दिए गए हैं। यहां उनकी शिथिलता के दूसरे उदाहरण दिए जाते हैं। जनमेजय के पुरोहित वेद का शिष्य है उत्तंक। वेद की पत्नी बडद्यी शांति के साथ उतंक से याचना करती है कि वह उसके पति का स्थान ले ले। वह उसे पुण्यार्जन करने के लिए ऐसा करने को कहती है। इसी प्रकरण में एक दूसरा उदाहरण उद्दालक की पत्नी का दिया जा सकता है। वह स्वेच्छा से या निमंत्रित होने पर किसी भी ब्राह्मण

के पास जा सकती थी। श्वेतकेतु उसके पति के शिष्यों में से किसी एक का बेटा है। ये शिथिलता या भ्रष्टाचार के ही उदाहरण नहीं हैं। ये उस नियमित छूट के उदाहरण हैं जो ब्राह्मण स्त्रियों को दी गई थी। जटिल गौतमी ब्राह्मण स्त्री थी। उसके सात पति थे, जो सभी-के-सभी ऋषि थे। महाभारत का कहना है कि अपने पांच पतियों में फंसी द्रौपदी की नागरिक लोग प्रशंसा कर रहे थे और सात पतियों वाली जटिल गौतमी से उसकी तुलना कर रहे थे। ममता उतथ्य की पत्नी थी। लेकिन उतथ्य का भाई बृहस्पति भी बिना खटके इसके समीप आ-जा सकता था। ममता ने एक ही बार उसके प्रस्ताव को अमान्य किया, जब उसने कहा कि वह गर्भिणी है, इसलिए वह प्रतीक्षा करे। वह यह नहीं कहती कि उसके समीप आना अनुचित था, या गैरकानूनी था।

इस प्रकार के अनैतिक व्यवहार इतनी सामान्य बात हो गए थे कि द्रौपदी ने जब दुर्योधन के द्वारा उसे गौ कहा गया, क्योंकि उसके एकाधिक पति थे, तो उसने जवाब दिया था कि अफसोस है कि उसके पति ब्राह्मण न थे।

अब हम ऋषियों की नैतिकता की परीक्षा करें। हमें क्या जानकारी मिलती है? पहली बात जो हमें देखने को मिलती है, वह यह है कि ऋषियों में पशुत्व की कमी न थी। विभण्डक ऋषि का उदाहरण लें। महाभारत के वन-पर्व के 100वें अध्याय में लिखा है कि उसने एक हिरणी के साथ संभोग किया, जिससे उसे एक पुत्र की प्राप्ति हुई। यही आगे चलकर शृंङ्ग ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। महाभारत के ही आदि पर्व के प्रथम अध्याय और एक सौ अट्ठारहवें अध्याय में लिखा है कि पाण्डवों के पिता पाण्डु ने दम नाम के ऋषि से अपना अभिशाप कैसे वहन किया? व्यास ऋषि का कहना है कि एक बार दम ऋषि जंगल में एक हिरनी के साथ संभोग-क्रिया में रत था। जब वह इस प्रकार उलझा हुआ था, पाण्डु ने उसे एक तीर मारा। इससे दम ऋषि की मृत्यु हो गई। लेकिन मरने से पहले उसने एक शाप दिया कि यदि पाण्डु ने कभी भी अपनी पत्नी को छूने का प्रयास किया तो वह तुरंत मर जाएगा। व्यास ऋषि ने इस पशुत्व को यह कहकर ढंकने की कोशिश की है कि उस ऋषि तथा उसकी पत्नी ने मनोरंजन के तौर पर हिरणी की शक्ल बना रखी थी। ऋषियों के इस प्रकार के आचरण के उदाहरण खोज निकालना कठिन नहीं है, यदि सावधानी से भारत के धार्मिक वाङ्मय का अध्ययन किया जाए?

एक दूसरी घृणित प्रथा जो ऋषियों के नाम के साथ जुड़ी हुई है, खुले आम लोगों के सामने औरतों के साथ संभोग करना। महाभारत के ही आदि पर्व के 63वें अध्याय में वर्णन है कि एक मछुए की बेटी सत्यवती उर्फ मत्स्यगन्धा के साथ ऋषि ने कैसे संभोग किया। व्यास का कहना है कि उसने खुले आम उस लड़की के साथ मनोरंजन के तौर पर संभोग किया। इसी तरह की एक घटना का वर्णन आदि पर्व के ही अध्याय 104 में दिया गया है। वहां लिखा है कि दीर्घतमा नामक ऋषि ने लोगों की आंखों के सामने सार्वजनिक जगह पर एक स्त्री के साथ संभोग किया। महाभारत में इस प्रकार की कई घटनाओं का वर्णन दिया है। ऐसे वर्णनों से ही सारे रिकॉर्ड को खराब कर डालने का कुछ

प्रयोजन नहीं। आयोनिज शब्द ही इस बात का प्रमाण है कि इस प्रकार की घटनाएं आम बात थीं। अनेक हिंदू जानते हैं कि सीता, द्रौपदी और कई दूसरी प्रसिद्ध औरतों को 'अयोनिजा' कहा गया है। 'अयोनिजा' का मतलब हुआ ऐसा बच्चा, जिसका गर्भाधान या जन्म घर में न हुआ हो। यदि आयोनिजा शब्द की यही व्युत्पत्ति ठीक है तो इसका मतलब हुआ खुले में या सब लोगों के सामने की गई संभोग क्रिया।

छांदोग्य उपनिषद में ऋषियों की अनैतिक करतूतों के एक और नमूने का उल्लेख किया गया है जो अत्यंत घृणास्पद है। इस उपनिषद में जो वर्णन है उससे ऐसा अनुमान होता है कि ऋषियों ने यह नियम बना लिया था कि जब कोई ऋषि यज्ञ करने में संलग्न होना चाहे, तो भले ही यज्ञ समाप्त न हुआ हो, भले ही वहां कोई एकांत स्थान हो या न हो, ऋषि को चाहिए कि वह यज्ञ-मण्डप में ही लोगों की नजर के सामने ही संभोग-क्रिया में संलग्न हो जाए। ऋषि की इस अनैतिक करतूत को एक धार्मिक कर्तव्य का रूप दे दिया था और उसका एक तांत्रिक नाम तक रख दिया था—वामदेव-व्रत। इसी को आगे चलकर वाम-मार्ग का नाम दे दिया गया।

आर्यों के प्राचीन धार्मिक साहित्य में ऋषियों के नैतिक आचार-व्यवहार के बारे में जो कुछ दिया गया है, इतने से ही उसकी इति-श्री नहीं होती। उनके नैतिक जीवन का एक और पहलू उल्लेखनीय है।

ऐसा लगता है कि प्राचीन आर्यों को अपनी नसल को अच्छा बनाने की भी बड़ी चिंता रहती थी। इसके लिए वे अपनी पत्नियों को दूसरों के पास भेजते थे। यह कार्य वे बहुत करके ऋषियों से लेते थे, जिनको वे एक प्रकार के 'अच्छी नसल पैदा करने वाले सांड' मानते थे। ऐसे ऋषियों की संख्या कुछ बहुत कम न थी। ऐसा लगता है कि इस प्रकार का अनैतिक व्यवहार ऋषियों का एक धंधा बन गया था। वे कितने भाग्यवान थे कि राजा भी अपनी रानियों को अच्छी संतति पैदा करवाने के लिए उनके पास भेजते थे।

अब हम देवताओं की चर्चा करें।

देवतागण एक शक्तिशाली जाति थे, लेकिन साथ ही अत्यंत उच्छृंखल। वे ऋषि पत्नियों तक पर हाथ साफ करते थे। गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या के साथ इन्द्र ने क्या कुछ किया था, यह कथा सर्व-विदित है। लेकिन आर्य-जनों की स्त्रियों के साथ उन्होंने जो व्यवहार किया वह शब्दातीत है। ऐसा लगता है कि बहुत पहले ही देवताओं ने आर्य-जनों को एक प्रकार से अपनी संपत्ति बना लिया था। उनका स्वामित्व इतना विकृत हो गया था कि आर्य जनों की देवियों को देवताओं की कामुकता को संतुष्ट करने के लिए वेश्या बनना पड़ता था। आर्य-जनों को यह बड़े अभिमान की बात मालूम देती थी यदि उनकी पत्नी किसी देवता से संसर्ग करती थी और खास तौर पर यदि किसी देवता से उसे गर्भ ठहर जाता था। महाभारत और हरिवंश पुराण में ऐसी संतानों की चर्चा है जिन्हें इन्द्र, यम, नस्त्य, अग्नि, वायु और दूसरे देवताओं ने उत्पन्न किया। इस तरह की संतानोत्पत्ति इतनी सामान्य थी कि आश्चर्य होता था कि देवताओं और सामान्य स्त्रियों

के बीच ऐसा संपर्क इतनी आसानी से कैसा होता था?

समय पाकर देवताओं और आर्य-जनों के संबंध स्थिर हो गए और ऐसा लगता है कि उन्होंने सामंतशाही का रूप धारण कर लिया। देवताओं ने आर्यों से दो वर लिए थे—

पहला वरदान तो वे यज्ञ ही थे, जो समय-समय पर देवताओं को दिए जाने वाले प्रीति-भोज होते थे। यह भोज इसलिए दिया जाता था कि देवता-गण राक्षसों के विरुद्ध, दैत्यों के विरुद्ध तथा दानवों के विरुद्ध युद्ध में सरंक्षण प्रदान करें। यज्ञ देवताओं की सामंतशाही के विरुद्ध उनसे प्राप्त किए जा सकने वाले संरक्षण के बदले उनको दी गई रिश्वत के अतिरिक्त कुछ न थे। ये यज्ञ देवताओं की सामंतशाही की उगाही मात्र ही थे। यदि ये इस रूप में समझे नहीं गए तो इसका कारण है कि 'देव' शब्द का अर्थ एक जमात-विशेष न रहकर ईश्वर-परक बन गया। यह अर्थ एकदम गलत है, खासकर आर्य जन-समूह के इतिहास के आरंभिक युग में।

दूसरा वरदान जो देवताओं ने आर्य-जनों के विरुद्ध प्राप्त किया था, वह था कि आर्य-जनों की देवियों को भोगने के मामले में उन्हें प्राथमिकता दी जाए। बहुत आरंभिक काल में ही यह अधिकार साकार हो गया था। इसका उल्लेख ऋग् वेद (10-85-40) में है। इसके अनुसार आर्य-देवी पर पहला हक सोम का था, दूसरा गंधर्व का, तीसरा अग्नि का और सबसे अंत में आर्य-जन का। प्रत्येक आर्य-देवी पर किसी-न-किसी देवता का ऋण चढ़ा रहता था और जब वह बालिग हो जाती थी, तो वह उसी की हो जाती थी। किसी भी आर्य से उसका विवाह होने से पूर्व, उसे उस देवता को योग्य दक्षिणा देकर उस देवी को उस देवता के अधिकार क्षेत्र से बाहर करना पड़ता था। आश्वलायन गृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय की सातवीं अण्डिका में इस विवाह-विधि का जो वर्णन दिया है, वह इस पद्धति के अस्तित्व का अकाट्य प्रमाण है। यदि ध्यान से और सावधानी से इस सूत्र का अध्ययन किया जाए तो यह प्रकट होगा कि विवाह के समय तीन देवता उपस्थित थे, अर्यमान, वरुण तथा पुशन। स्पष्ट ही इसीलिए कि उनका विवाहित देवी पर पहला हक है। पहली बात जो वर करता है, वह कहता है कि वह वधू को एक शिलाखण्ड के पास लाता है और उसे उस पर खड़ा करता है और कहता है, "इस शिलाखण्ड पर खड़ी हो जाओ। इस शिलाखण्ड की तरह स्थिर रहो। अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो। उन्हें नीच गिरओ।" इसका मतलब है कि वह अपनी भावी-वधू को उन देवताओं के अधिकार-क्षेत्र से बाहर लाना चाहता है, जिन्हें वह अपना शत्रु समझता है। देवता-गण क्रोधित हो जाते हैं और वर पर हल्ला कर देते हैं। वधू का भाई बीच-बचौला करता है और झगड़े को शांत कर देता है। वह भुना हुआ चना लाता है और क्रुद्ध देवता को भेंट करता है ताकि उसकी अपनी वधू पर देवता का जो अधिकार है उसे वापिस खरीद लिया जा सके। तब भाई अपनी वधू को कहता है कि दोनों हाथ जोड़कर और बीच में जगह रख कर चुंगल बना दे। तब वह उसके चुंगल को भुने हुए चनों से भर देता है और उस पर घी डालता है। वह अपनी वधू को कहता है कि वह तीन बार करके प्रत्येक देवता

को दे। यह भेंट 'अवदान' कहलाती है। जिस समय वधू इस अवदान की सप्रेम भेंट कर रही है, आर्यमन को चाहिए कि लड़की पर उसका जो अधिकार है उससे उसे मुक्त कर दे। वह वर के अधिकार में हस्तक्षेप न करे।" दूसरे दोनों देवताओं को भी वधू के द्वारा पृथक-पृथक अवदान समर्पित किए जाते हैं। उस समय भी भाई इन्हीं वाक्यों को दोहराता है। अवदान-प्रक्रिया के अनंतर अग्नि की प्रदक्षिणा होती है जो कि सप्तपदी कहलाती है। इसके बाद वर-वधू का विवाह हर दृष्टि से पक्का हो जाता है। इसमें कुछ संदेह नहीं कि ये सब सूचनाएं ज्ञानवर्धक हैं। यह बताती हैं कि आर्य जन देवताओं द्वारा कितनी जघन्य अवस्था को पहुंचा दिए गए थे और न केवल देवता, बल्कि आर्य जन भी नैतिक दृष्टि से कितने अधिक पतित हो चुके थे।

सभी वकील जानते हैं कि हिंदू-विवाह में सप्तपदी कितनी अधिक अनिवार्य है और बिना सप्तपदी के कोई भी विवाह कानूनी नहीं माना जा सकता, लेकिन बहुत कम लोग जानते हैं कि विवाह में सप्तपदी का इतना अधिक महत्त्व क्यों है? कारण सुस्पष्ट ही है। यह एक परीक्षा है इस बात की कि जो देवता वधू पर अपना प्राथमिक अधिकार मानता था। वह अवदान लेकर संतुष्ट हो गया है या नहीं और वह उस स्त्री को मुक्त करने के लिए भी राजी है या नहीं? यदि देवता ने उस वधू के वर को अपनी वधू को सात कदमों की दूरी तक साथ साथ ले जाने दिया तो यह इस बात का सबूत था कि देवता अवदान लेकर संतुष्ट हो गया है और उसने उस स्त्री पर से अपना हक छोड़ दिया है। अब वह लड़की मन चाहे पति की पत्नी बन सकती है। सप्तपदी का दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। प्रत्येक शादी-विवाह में सप्तपदी अनिवार्य तौर पर आवश्यक है, यह इसका प्रमाण है कि इस प्रकार की अनैतिकता ने न केवल देवताओं में, बल्कि आर्यों में भी अपना घर बना लिया था।

जब तक कृष्ण की नैतिकता का पृथक विवेचन न हो, तब तक यह चर्चा अधूरी ही मानी जाएगी क्योंकि कहा जाता है कि कृष्ण की मृत्यु के बाद से कलियुग का आरंभ होता है, कृष्ण के नैतिक जीवन का अपना खास महत्त्व हो जाता है। कृष्ण का नैतिक जीवन दूसरों के नैतिक जीवन की तुलना में कैसा था? अन्यत्र कृष्ण के जीवन की विस्तृत चर्चा की गई है। यहां दो-चार बातें और जोड़ रहा हूं। कृष्ण वृष्णी (यादव) परिवार से संबंधित था। यादव बहुपत्नी विवाह के समर्थक थे। यादव राजाओं के बारे में कहा जाता है कि उनकी अनगिनत औरतें थीं और अनगिनत पुत्र थे। यह एक ऐसा दाग था जो कृष्ण के दामन पर भी लगा हुआ था। यादव परिवार और कृष्ण का अपना घराना भी पैतृक अनाचार के धब्बे से युक्त था। मत्स्य पुराण का उल्लेख है कि यादव परिवार में एक पिता ने अपनी लड़की से शादी की थी। उससे उसे नल नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। एक पुत्र ने अपनी मां के साथ संभोग किया, इसका उदाहरण हमें सम्ब नाम के कृष्ण-पुत्र के चरित्र में मिलता है। मत्स्य पुराण में लिखा है कि किस प्रकार सम्ब को अपने ही पिता कृष्ण की पत्नियों के साथ अनैतिक जीवन जी रहा था। कृष्ण को क्रोध आया और उन्होंने

सम्ब को और उन अपराधी स्त्रियों को भी बहुत भला-बुरा कहा। इसी घटना की ओर महाभारत ने भी संकेत किया है। सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा कि अपने पांच पतियों को जो उसने काबू में रखा है, उसका रहस्य क्या है? महाभारत के अनुसार द्रौपदी ने उसे मना किया कि वह अपने सौतेले-पुत्रों के साथ एकांत-जीवन व्यतीत न करे। मत्स्य पुराण ने जो कुछ संब के बारे में कहा है, उसका और महाभारत के इस कथन का परस्पर मेल है। अकेला सम्ब ही दोषी नहीं रहा है। उसके भाई प्रद्युम्न ने भी अपनी मौसी मायावती के साथ विवाह किया था। यह मायावती संबर की पत्नी थी।

कृष्ण की मृत्यु से पहले ही आर्यजनों के नैतिक जीवन की यह दुर्दशा थी। यह संभव नहीं है कि हम ब्योरेवार कह सकें कि एक-एक युग में क्या दशा थी? कृतयुग में क्या थी? त्रेता में क्या थी? द्वापर में क्या थी? और कलियुग में क्या थी? यदि हम यह मानकर चलें कि प्राचीन आर्य प्रगतिशील थे, तो हमें यह दिखाई देगा कि अनैतिकता की सर्वाधिक घृणित घटनाएं कृत-युग में घटी हैं, उन घटनाओं से कुछ कम बुरी त्रेतायुग में, और उनसे भी और अधिक कम बुरी द्वापर में, तथा सबसे कम बुरी या सबसे अच्छी कलियुग में।

यह विचार-सरणी केवल उस मान्यता पर आधारित नहीं है जो हम देखते हैं कि सारे मानव समाज में प्रगति हो रही है। यह जो कहा जाता है कि समाज का नैतिक पतन हुआ है, यह सत्य नहीं है। हमारा प्राचीन आर्यजनों का समाज बड़े-बड़े साहसिक सुधारों के माध्यम से सामाजिक बुराइयों को दूर करने में लगा रहा है—यही इस देश का इतिहास है।

सामान्य आर्य जनों की दृष्टि में देवताओं और ऋषियों की बड़ी पद-प्रतिष्ठा थी। प्रायः यही होता है कि जिन्हें निम्नस्तर पर माना जाता है, वह अपने से ऊपर वालों की नकल करते हैं। ऊंचे वर्ग के लोग क्या करते हैं, उसी की नकल करना निम्न स्तर के लोगों के लिए आदर्श कार्य हो जाता है। आर्यजनों में जो अनैतिकता व्याप्त थी वह साधारण जनों द्वारा देवताओं और ऋषियों के आचरण की नकल करने से उत्पन्न हुई थी। समाज में व्याप्त अनैतिक जीवन को शुद्ध करने के लिए आर्यजनों ने एक अनोखा उपाय किया। उन्होंने नियम बनाया कि देवताओं और ऋषियों के आचरण को 'आदर्श आचरण' के रूप में उपस्थित न किया जाए। इस प्रकार इस साहसी कदम द्वारा अनैतिकता के मूल पर कुठाराघात हो गया।

दूसरे सुधार भी उतने ही क्रांतिकारी थे। महाभारत दो सुधारकों के नाम देता है—दीर्घतमा और श्वेतकेतु। श्वेतकेतु ने यह नियम बनाया कि विवाह स्थायी संबंध है और तलाक संभव नहीं है।

दीर्घतमा ने दो सुधार किए। उसने बहुपतित्व को रोका और नियम बनाया कि एक पत्नी का केवल एक पति हो सकता था। दूसरा सुधार उसने कुछ ऐसे नियम बनाए जिनसे नियोग नियम-बद्ध हो जाएं। उसके सुझाए नियमों में प्रमुख थे—

(1) विधवा का पिता या भाई उसे कहेगा कि वह नियोगकर्ता का निश्चय करे।

(2) पति, भले ही वह जीवित हो, या मृत हो उसकी कोई संतति न हो।

प्राचीन आर्य जनों ने अपने नैतिक स्तर को ऊंचा करने के लिए और भी बहुत से सुधार किए हैं। एक था–

गुरु-पत्नी के साथ संभोग करने को भयानक पाप माना गया।

जुए को नियम-बद्ध करने के लिए भी अनेक नियम बनाए गए।

ये सभी सुधार कलियुग के आरंभ से पहले किए जा चुके थे। इसलिए यह सोचना स्वाभाविक है कि नैतिकता की दृष्टि से कलियुग एक श्रेष्ठतर युग है। कहना कि कलियुग में नैतिकता का स्तर गिरा, न कवेल निराधार कथन है, बल्कि भयानक विकृति है।

(5)

कलियुग की चर्चा ने अनेक पहेलियों को जन्म दिया है–

(1 कलियुग को 165 ई. पूर्व में बंद क्यों नहीं किया गया?

(2) संध्या और संध्यांश के अंशों को बाद में कलियुग में क्यों जोड़ा गया?

(3) यह मानवी-विभाजन और दैवी-विभाजन का भेद क्यों खड़ा किया गया?

(4) कलियुग को अनंतकाल तक बनाए रखने में वैदिक ब्राह्मणों का कौन-सा उद्देश्य सिद्ध होता है?

(5) क्या इस सिद्धांत का अविष्कार कुछ शूद्र राजाओं को बदनाम करना ही तो नहीं रहा ताकि उनकी प्रजा को उनके शासन के प्रति भी विश्वास न रहे।

कलियुग : एक पहेली

समय का हिसाब-किताब रखने के लिए हिंदुओं ने समय का जो विभाजन अपनाया है, वह अपनी जगह महत्त्व का है। पुराणों के हिसाब से समय के पांच माप हैं–

(1) वर्ष, (2) युग, (3) महायुग, (4) मन्वन्तर, और (5) कल्प।

विष्णु पुराण में इन्हें विस्तारपूर्वक समझाया गया है–

"आंख की 15 झपकियां एक कष्ठ का समय है, तीस कष्ट एक कला है, तीस कला का एक मुहूर्त होता है, तीस मुहूर्तों का एक रात-दिन।"

तीस-तीस मुहूर्तों के 15 दिन पक्ष कहलाते हैं। शुक्ल-पक्ष और कृष्ण-पक्ष मिलकर एक महीना बनते हैं।

विष्णु पुराण ने युग को इस प्रकार समझाया है–

"चार प्रकार के महीनों से बने साल पांच प्रकार के काल-विभाजन में विभक्त हैं। सभी प्रकार के समयों का समूह युग कहलाता है। पृथक-पृथक करके साल संवत्सर कहलाते हैं, इदवत्सर कहलाते हैं, अनुवत्सर कहलाते हैं, परिवत्सर कहलाते हैं और वत्सर

कहलाते हैं। इतना सारा समय युग कहलाता है।

वर्ष एकदम सरल है। यह साल या 365 दिनों का दूसरा नाम है।

(1) कृतयुग, (2) त्रेतायुग, (3) द्वापर युग, और (4) कलियुग मिलकर एक महायुग बनाते हैं।

71 महायुगों का एक कल्प होता है, वर्षों के हिसाब से 43,20,000 वर्षों का।

71 महायुगों का एक कल्प होता है, वर्षों के हिसाब से, 3,06,72,000 वर्षों का।

मन्वन्तर 71 महायुगों के जोड़ से भी थोड़ा अधिक होता है–

ऐसा प्रतीत होता है कि मन्वन्तरों की योजना विश्व भर के लिए एक शासक-वर्ग उपस्थित करने की है। हर मन्वन्तर का एक अधिष्ठाता होता है जो मनु कहलाता है और जो कानून बनाता है। पूजा करने के लिए देवता गण रहते हैं, सात ऋषि रहते हैं और एक राजा रहता है जो शासन संबंधी सभी गुत्थियां सुलझाता रहता है।

ऋग्-वेद में युग शब्द कम-से-कम 38 बार आया है। महाभारत में चारों युगों का वर्णन इस प्रकार है–

''कृतयुग उस युग को कहते हैं, जिसमें धर्म का स्थायित्व रहता है। उस श्रेष्ठतम युग में हर बात कृत रहती है। कुछ भी अकृत नहीं रहता। उस समय कोई भी अपने कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करता और लोगों का भी ह्रास नहीं होता। बाद में काल के प्रभाव से इस युग का ह्रास हो गया। उस युग में न देवता थे, न दानव थे, न गंधर्व थे, न यक्ष थे, न राक्षस थे, न पन्नाग थे। उस युग में क्रय-विक्रय भी नहीं होता था। वेदों का भी साम, ऋग् और यजुर्वेद के हिसाब से वर्गीकरण नहीं हुआ था। आदमी को किसी भी दिशा में कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। इच्छा करने मात्र से पृथ्वी के फलों की प्राप्ति होती थी। धर्म और परित्याग का शासन था। आयु के कारण न कोई रोग उत्पन्न होता था और न इन्द्रियों में किसी भी प्रकार की दुर्बलता आती थी। न ईर्ष्या थी, न रोना-धोना था, न अहंकार था और न धोखा-धड़ी थी। न कहीं कोई कलह था, और न दौर्बल्य था। न घृणा थी, न निर्दयता थी, न डर था, न कोई रोग था, न ईर्ष्या-द्वेष था। इसलिए ब्रह्म ही उन योगियों का विश्राम-स्थल था। उस समय सभी प्राणियों का आत्मा नारायण श्वेत वर्ण था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में कृतयुग के गुण विद्यमान थे। उस समय जो भी प्राणी जन्म ग्रहण करते थे, वे अपने कर्तव्यों के प्रति सजग रहते थे। उनके विश्वास, उनका आचरण तथा उनकी विद्या एक जैसी थी। उस समय जो जातियां थीं वे अपने कार्यों तथा कर्तव्यों की पूर्ति करती थीं। वे एक ही देव के प्रति श्रद्धा-संपन्न थी। वे एक ही मंत्र का जाप करती थीं। उनका एक ही शासन था और एक तरह के रीति-रिवाज। यद्यपि उनके कर्तव्य भिन्न-भिन्न थे, लेकिन उनका वेद एक ही था–कृत-युग तीनों युगों के प्रभाव से मुक्त था।

''अब त्रेता युग को समझें। इस युग में यज्ञयागादि आरंभ हुए। धर्म के एक चौथाई हिस्से का ह्रास हो गया।

द्वापर युग में धर्म के दो चौथाई हिस्से का या आधे धर्म का ह्रास हो गया। विष्णु पीले हो गए और वेदों की संख्या चार हो गई। कुछ लोग चार वेदों का अध्ययन करते थे, कुछ तीन का, कुछ दो का, कुछ एक का और कुछ किसी का एक भी नहीं।

कलियुग में धर्म का केवल चौथा अंश शेष रह गया।''

ये सूचनाएं सचमुच बड़ी विचित्र हैं। प्राचीन वैदिक वाङ्मय में कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि इन शब्दों का उल्लेख है। त्रैत्तिरीय संहिता में, वाजस्नेय संहिता में, ऐत्तरेय ब्राह्मण में और शत्पथ ब्राह्मण में अनेक स्थलों पर ये शब्द आए हैं। लेकिन वहां ये सभी जुआ खेलने के प्रकरण में प्रयुक्त हुए हैं। शत्पथ ब्राह्मण के अनुसार कृत उसे कहते हैं जो जुए में दूसरे की गलतियों से फायदा उठाता है, त्रेता उसे कहते हैं जो नियमानुसार खेलता है, द्वापर जो अपने साथी खिलाड़ी को पीछे छोड़ जाना चाहता है। ऐत्तरेय ब्राह्मण का कथन है–

''जीत की पूरी आशा की जा सकती है। कलि पड़ी है, दो पासे और धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे हैं, आधे गिरे हुए हैं। लेकिन सबसे अधिक सौभाग्यशाली गोटी कृत पूरे जोर पर है।''

यह स्पष्ट ही है कि इन सभी स्थलों पर इन सभी शब्दों को जुए के पासे या गिट्टी छोड़कर और कोई दूसरा अर्थ नहीं।

मनु ने इन शब्दों का जो अर्थ लगाया है, वह भी ध्यान देने योग्य है–

''कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ये सभी राजा की चर्या के द्योतक हैं। युग कहते हैं राजा को। जब राजा निद्रा-मग्न होता है वह कलियुग कहलाता है, जागृत अवस्था में वह द्वापर युग में होता है, जब वह कुछ करना चाहता है तो वह त्रेता युग होता है और जब वह अग्रसर होता है तो वह कृत कहलाता है।''

अब हम मनु के पूर्वजों के द्वारा कलि आदि शब्दों के जो अर्थ दिए गए हैं, उनसे मनु के अर्थों की तुलना करें। जो शब्द जुआरियों के कोष में दिखाई देते थे, वे राजनीति के शब्द बन गए।

प्रश्न है कि वे कौन सी परिस्थितियां थीं, जिनसे मजबूर होकर ब्राह्मणों ने यह कलियुग का सिद्धांत गढ़ा? ब्राह्मणों ने कलियुग को समाज की पतित अवस्था का पर्याय क्यों स्वीकार किया? मनु ने एक सोने वाले राजा को ही 'कलि' क्यों कहा है? मनु के समय किस राजा का राज्य था? वह उस राजा को सोने वाला राजा क्यों कहता है?

इन्हीं प्रश्नों में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यही है कि कलियुग कब आरंभ हुआ?

पुराणों ने दो तिथियां दी हैं। कुछ का मत है कि कलियुग ई. पूर्व चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में शुरू हुआ। दूसरों का कहना है कि ई. पूर्व 3102 की 18 फरवरी से इसका श्रीगणेश हुआ। कहा जाता है कि इसी दिन कौरव-पाण्डव युद्ध आरंभ हुआ था। प्रो. आयंगर का कहना है कि हमारे पास कोई प्रमाण नहीं कि जिससे हम यह सिद्ध कर सकें कि सारे भारत में कलियुग संवत् का प्रयोग सातवीं शताब्दी से पहले हुआ था। सर्वप्रथम यह एक शिला-लेख में प्रयुक्त मिलता है। यह शिला-लेख पुलकेसी द्वितीय का था जो

610 ई. तथा 612 ई. के बीच बादामी में राज्य करता था।

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि महाभारत युद्ध का आरंभ 1243 ई. पूर्व से हुआ। कोई भी ऐसी निश्चित तिथि नहीं है, जिसे कलि युग के आरंभ की तिथि घोषित किया जा सके। कौन-सी तिथि? यह एक बड़ी पहेली है।

कलियुग के साथ दो मिथ्या-मत जुड़े हुए हैं। ब्राह्मणों का पक्का विश्वास है कि कलियुग में केवल दो वर्ण हैं, ब्राह्मण तथा शूद्र-वर्ण। उनका कहना है कि बीच के दो वर्ण क्षत्रिय और वैश्य अन्तर्धान हो गए।

दूसरा मिथ्यामत जो कलियुग के साथ जुड़ा हुआ है, वह है कलिवर्ज्य का, ऐसे कार्य जिनका करना कलियुग में वर्जित है। वे भिन्न-भिन्न पुराणों में बिखरे पड़े हैं। आदित्यपुराण में दी गई सूची में 41 कलिवर्ज्य दिए हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख पहले आ चुका है।

यह थे राम और कृष्ण

राम रामायण के प्रधान पात्र हैं और रामायण के रचयिता हैं वाल्मीकि। राम-कथा लंबी कथा नहीं है और उसमें कोई बात ऐसी नहीं है, जिसे रोमांचकारी कहा जा सके।

राम के पिता दशरथ हैं, जो कि अयोध्या नगरी के राजा थे। अयोध्या आधुनिक फैजाबाद है।

कई सौ रखेलियों के अतिरिक्त दशरथ की तीन रानियां थीं—कौशल्या, कैकयी और सुमित्रा।

कैकेयी ने शादी के अवसर पर दो 'वर' मांगे थे, जिसका मतलब था कि वह राजा से कभी दो चीजें मांगेगी और राजा को उसकी दोनों मांगें पूरी करनी पड़ेंगी। बहुत समय तक दशरथ को कोई संतान नहीं हुई थी। राजा दशरथ की बलवती इच्छा थी कि राजगद्दी के लिए कोई युवराज मिल जाए। यह देखकर कि उसे संतान प्राप्ति की कोई आशा नहीं, उसने पुत्रेष्टि यज्ञ करने का निश्चय किया और इस मतलब के लिए शृंङ्ग ऋषि को बुलवाया। ऋषि शृंङ्ग ने पिण्ड तैयार किए और राजा दशरथ की रानियों को खाने के लिए दिए। उन पिण्डों को खा लेने के बाद तीनों रानियां गर्भिणी हो गई और चार पुत्रों को जन्म दिया। कौशल्या राम की मां बनी, कैकयी भरत की और सुमित्रा ने लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न दो लड़कों को जन्म दिया। योग्य समय आने पर राम की शादी सीता से हो गई। जब राम बालिग हो चला, दशरथ ने सोचा कि वह राजगद्दी राम को सौंप दे और स्वयं शासन के कारबार से छुट्टी ले ले। जब इसकी तैयारी हो रही थी, कैकयी ने बाधा उपस्थित की। बोली—"मुझे मेरे 'वर' मिलने चाहिए।" जब उसे 'वर' मांगने के लिए कहा तो वह बोली—"राम की बजाए मेरे पुत्र भरत को राजा बनाया जाए और राम पूरे चौदह वर्ष तक जंगल में रहे।" अत्यंत अनिच्छा पूर्वक दशरथ सहमत हो गया। भरत ने अयोध्या की राजगद्दी संभाली और राम तथा सीता ने वनवास स्वीकार किया। साथ में सौतेला भाई लक्ष्मण भी गया। जब तीनों जंगल में रह रहे थे तो श्रीलंका का राजा रावण सीता को उठा ले गया और उसे वहां अपने राजमहल में रखा। उसका इरादा था कि वह सीता को भी अपनी पत्नी बना ले। तब राम और लक्ष्मण ने सीता की तलाश शुरू की। रास्ते में सुग्रीव तथा हनुमान से मुलाकात होती है। ये दोनों वानर जाति के बड़े आदमी थे। राम-लक्ष्मण

की उनसे दोस्ती हो गई। उनकी मदद से सीता-हरण के स्थान का पता लग गया और उनकी सहायता से लंका पर चढ़ाई की गई। युद्ध में रावण को मार गिराया गया और सीता को छुड़ा लिया। सीता और लक्ष्मण सहित राम अयोध्या लौट आए। उस समय तक चौदह वर्ष बीत चुके थे और कैकयी की शर्त पूरी हो चुकी थी। भरत ने राजगद्दी त्याग दी और उसकी जगह राम राजगद्दी पर विराजमान हुए।

संक्षेप में वाल्मीकि के द्वारा रचित रामायण में दी गई राम-कथा इतनी ही है।

इस कहानी में ऐसा कुछ नहीं कि राम को पूज्य माना जाए। वह केवल एक आज्ञाकारी पुत्र है। वाल्मीकि को राम के चरित्र में कुछ असाधारणता दिखाई दी। इसीलिए उसने रामायण की रचना की। वाल्मीकि ने नारद से पूछा–

'हे नारद! मुझे बताएं कि इस समय पृथ्वी पर सबसे बड़ा महापुरुष कौन है?'

इसके आगे वे अपने 'महापुरुष' की परिभाषा करते हैं–

"शक्तिशाली, जो धर्म के सार से परिचित हो, जो कृतज्ञ हो, जो सत्यवादी हो, जो प्रतिकूल अवस्था में भी दिए हुए वचन की पूर्ति करने के लिए स्वार्थत्याग कर सकता हो, जो शीलवान् हो, जो सभी के हितों का संरक्षण करनेवाला हो, जो मजबूत हो, जो आकर्षक हो, जो संयमी हो, जो अपने क्रोध पर काबू रख सकता हो, जो विशिष्ट हो, जिसके मन में किसी दूसरे की संपत्ति के प्रति ईर्ष्या न हो, और जो युद्ध में देवताओं के भी दिलों को दहला सकता हो।"

नारद तब विचार करने के लिए समय चाहते हैं और चिंतन-मनन के उपरांत कहते हैं–"एक ही पुरुष है जो इन सभी गुणों का धनी है, और वह है राम। वह दशरथ का पुत्र है।"

अपने गुणों के कारण ही राम अवतार मान लिया गया है।

लेकिन क्या राम का व्यक्तित्व सचमुच ऐसा है कि उन्हें देवत्व की गद्दी पर बिठाया जा सके? जो लोग राम को इस योग्य मानते हैं कि उन्हें देवता मानकर उनकी पूजा की जा सके वे निम्नलिखित बातों पर विचार करें।

राम का जन्म अपने में एक करिश्मा है। हो सकता है कि यह जो कथा गढ़ी गयी है कि राम का जन्म ऋषि शृंङ्ग द्वारा दिये गये एक पिण्ड से हुआ था, इस सचाई को ढकने का एक रूपक मात्र हो कि राम का जन्म कौशल्या और ऋषि शृंङ्ग के सम्पर्क से हुआ था। ऋषि शृंङ्ग और कौशल्या पति-पत्नी न थे। कुछ भी, राम का जन्म यदि बदनामी का कारण न भी रहा हो तो भी वह अस्वाभाविक अवश्य था।

राम के जन्म के साथ कुछ दूसरी घटनाएं भी जुड़ी हुई हैं। यह हो नहीं सकता कि वे बुरी न लगें। वाल्मीकि ने अपनी रामायण के आंरभ में ही इस बात पर जोर दिया है कि राम विष्णु के अवतार हैं। विष्णु ने राम के रूप में जन्म ग्रहण करना और दशरथ का पुत्र होना स्वीकार किया। ब्रह्मा को उसकी जानकारी होगी तो ब्रह्मा ने सोचा कि विष्णु का जो रामावतार है, उसकी पूर्ण सफलता के लिए यह आवश्यक है कि राम को

शक्तिशाली लोगों को सहयोग मिले। उस समय ऐसे कोई लोग नहीं थे।

देवताओं ने ब्रह्मा की आज्ञा के पालन का निश्चय किया। वे थोक स्तर पर न केवल अप्सराओं के साथ व्यभिचार करने पर तुल गए, न केवल यक्षों और नागों की अविवाहित लड़कियों के साथ संभोग करने लगे, बल्कि रुक्ष, विद्याधर, गंधर्व, किन्नर और वानरों की नियमानुसार विवाहित स्त्रियों के साथ भी संभोग करने लगे और इस प्रकार राम को सहयोग देने के लिए वानरों की सेना तैयार कर दी।

इस प्रकार राम का जन्म भले ही व्यक्तिगत स्तर पर नहीं, तो भी उनके सहयोगियों को लेकर ही सही, सामान्य रूप से लंपटता के साथ जुड़ा हुआ है। सीता से जो उनका अपना विवाह हुआ, उसकी भी टीका होती है। बौद्ध-रामायण (दशरथ जातक) के अनुसार राम और सीता दोनों भाई-बहन हैं। दोनों दशरथ की संतानें थीं। बौद्ध रामायण में राम और सीता का जो आपसी रिश्ता था, वाल्मीकि रामायण उससे सहमत नहीं हैं। वाल्मीकि के अनुसार सीता विदेह-नरेश जनक की कन्या थीं और इसलिए राम और सीता भाई-बहन नहीं थे। यह कथन संतोषप्रद नहीं है, क्योंकि वाल्मीकि के अनुसार भी वह जनक की स्वाभाविक रूप से उत्पन्न पुत्री नहीं है। वह तो एक किसान को अपने खेत में पड़ी मिली हुई बच्ची थी, जिसे उसने राजा जनक को दे दिया था। जनक ने उसका पालन-पोषण भर किया था। इसलिए यह केवल ऊपरी तौर पर ही कहा जा सकता है कि सीता जनक की पुत्री थी। बौद्ध रामायण की कथा स्वाभाविक है और उस समय विवाह के संबंध में आर्यों की जो मर्यादा थी, उसके प्रतिकूल नहीं। यदि उक्त कथा सच्ची है तो राम-सीता का विवाह कोई ऐसा आदर्श विवाह नहीं है जिसकी नकल करना वाञ्छनीय हो। दूसरे शब्दों में राम का विवाह कोई आदर्श अनुकरणीय विवाह नहीं था। राम का एक गुण बताया जाता है कि वे एक पत्नी-व्रती थे। यह मान्यता न जाने कैसे सर्वसाधारण तक पहुंच गई। क्योंकि यह सर्वथा निराधार है। राम की बहुत-सी पत्नियों की चर्चा तो वाल्मीकि तक ने की है। कहना अनावश्यक है कि ये सब तो उनकी बहुत-सी रखेलियों के अतिरिक्त थीं। इस विषय में वे अपने नाममात्र के पिता राजा दशरथ के सच्चे सपूत थे, जिनकी तीन रानियों के अतिरिक्त और बहुत-सी औरतें थीं।

अब हम एक व्यक्ति के तौर पर एक राजा के तौर पर राम के चरित्र पर विचार करें।

एक व्यक्ति के तौर पर राम का विचार करने के लिए मैं उनके जीवन की केवल दो घटनाओं की ओर इशारा करूंगा। एक तो बाली के प्रति उनका दुर्व्यवहार, दूसरा स्वयं अपनी विवाहित स्त्री सीता के साथ। पहले हम बाली की ही कथा से आरंभ करें।

बाली और सुग्रीव दोनों भाई थे। वे वानर नस्ल से थे और शासक परिवार के थे। उनका अपना राज्य था, जिसकी राजधानी थी किष्किंधा। जिस समय रावण सीता को उठा ले गया था, उस समय किष्किंधा में बाली शासन कर रहा था। जिस समय बाली राजगद्दी पर बैठा था, उस समय मायावी नाम के राक्षस से उसकी लड़ाई ठन गई। दोनों का द्वंद्व-युद्ध हुआ तो मायावी अपनी जान लेकर भागा। बाली और सुग्रीव दोनों ने मिलकर मायावी का

पीछा किया। मायावी एक गुफा में जा घुसा। बाली ने सुग्रीव को कहा कि तुम इस गुफा के द्वार पर मेरी प्रतीक्षा करना और स्वयं गुफा में चला गया। कुछ समय बाद उसी गुफा में से लहू की एक धारा बाहर आई। सुग्रीव इस परिणाम पर पहुंचा कि मायावी ने बाली को गुफा के भीतर मार दिया होगा। वह किष्किंधा लौट आया और बाली की जगह अपने आपको ही राजा मान लिया। हनुमान को उसने प्रधानमंत्री बनाया।

यथार्थ बात यह हुई थी कि बाली नहीं मारा गया था। बाली ने ही मायावी को मार डाला था। बाली उस गुफा से बाहर आया। वहां उसे सुग्रीव नहीं दिखाई दिया। वह किष्किंधा पहुंचा। जाकर देखता क्या है कि सुग्रीव ने ही अपने-आपको राजा घोषित कर दिया है। स्वाभाविक था कि भाई के इस विश्वासघात पर बाली क्रोधित हो उठता। उसका क्रोधित हो उठना अपनी जगह ठीक भी था। सुग्रीव को चाहिए था कि वह पक्की तौर पर पता लगा लेता कि बाली मर गया है या नहीं? उसे यूं ही मान लेना नहीं चाहिए था कि बाली मर गया है। दूसरे बाली का एक लड़का था। नाम था अंगद। सुग्रीव को चाहिए था कि वह अंगद को बाली का जायज उत्तराधिकारी मानकर उसे गद्दी पर बिठाता। उसने दोनों में से एक भी बात नहीं की। यह राजगद्दी छीन लेने का सीधा और साफ मामला था। बाली ने सुग्रीव को भगा दिया और अपना राज्यासन वापिस ले लिया। दोनों भाई आमरण शत्रु हो गए।

वह घटना लगभग उसी समय घटी जब रावण सीता को उठा ले गया था। राम और लक्ष्मण उसकी तलाश में भटक रहे थे। सुग्रीव और हनुमान भी ऐसे लोगों की तलाश में थे, जो उन्हें खोई हुई राजगद्दी वापस दिलाने में मदद कर सकें। अचानक दोनों पक्ष आपस में मिले। परस्पर एक-दूसरे की कठिनाइयों की जानकारी होने पर दोनों के बीच एक समझौता हुआ। यह तय हुआ कि राम बाली को मारने में और सुग्रीव को किष्किन्धा का राज्य दिलाने में उसकी मदद करेगा। और दूसरी ओर सुग्रीव और हनुमान ने यह आश्वासन दिया कि वे सीता की तलाश में राम की मदद करेंगे। समझौते के अपने हिस्से को पूरा कर सकने के लिए यह निश्चय किया गया कि सुग्रीव अपने गले में एक माला पहने रहे ताकि द्वंद्व-युद्ध में वह आसानी से पहचाना जा सके। यह भी तय हुआ कि द्वंद्व-युद्ध के समय राम अपने आपको एक पेड़ की ओट में छिपाए रखेंगे और वहीं से बाली को तीर का निशाना बनाकर उसे मार डालेंगे। तदनुसार द्वंद्व-युद्ध तय हुआ। सुग्रीव के गले में माला थी। जिस समय द्वंद्व-युद्ध जारी था, राम ने पेड़ के पीछे छिपे रहकर बाली को तीर का निशाना बनाया और मार डाला। इस प्रकार राम ने सुग्रीव के लिए किष्किन्धा का राजा बनने का रास्ता साफ कर दिया। यह बाली का इस प्रकार वध कर डालना राम के चरित्र पर लगा हुआ सबसे अधिक काला धब्बा है। यह एक जुर्म था। राम को किसी ने ऐसा करने के लिए उत्तेजित नहीं किया था। बाली का राम के साथ किसी भी प्रकार का कोई कलह नहीं था। यह अत्यंत कायरतापूर्ण आक्रमण था, क्योंकि बाली के पास कोई शस्त्र न था। यह पहले से सोच-समझकर की गई योजना-बद्ध हत्या थी।

राम ने अपनी ही पत्नी सीता के साथ क्या किया? सुग्रीव और हनुमान द्वारा इकट्ठी की गई सेना को साथ लेकर राम ने श्रीलंका पर आक्रमण किया। वहां भी उसने वैसे ही कमीनेपन का प्रदर्शन किया जैसा बाली और सुग्रीव के प्रकरण में किया था। उसने रावण के भाई विभीषण की मदद ली और उसे कहा कि रावण और उसके पुत्र इन्द्रजीत के मर जाने पर उसे सिंहासन पर बिठा दिया जाएगा। राम रावण और उसके पुत्र इन्द्रजीत की हत्या करते हैं। रावण मारा जाता है तो पहला काम जो राम करते हैं, वह रावण की अन्त्येष्टि है। वह गौरव के साथ संपन्न की जाती है। उसके बाद वह विभीषण को राजगद्दी पर बिठाने के कार्यक्रम में दिलचस्पी लेते हैं। राज्यारोहण का कार्यक्रम संपन्न हो चुकने पर ही वे हनुमान को सीता को ले आने के लिए नहीं भेजते। वे केवल उसे यह सूचना देते हैं कि वे सकुशल हैं। सीता ही हनुमान को कहती है कि वह राम के दर्शन करना चाहती है। राम अपनी ही पत्नी सीता के पास नहीं जाते हैं। रावण द्वारा उठाकर ले जाई गई सीता और उसकी अशोक-वाटिका में रहती रही सीता को ही उन तक पहुंचाया जाता है। यदि वाल्मीकि को इस विषय में प्रमाण न माना जाए तो किसी भी आदमी के लिए यह विश्वास करना कठिन होगा कि कोई भी आदमी ऐसी कठिन, ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में अपनी ही पत्नी को इस प्रकार संबोधित करेगा? राम ने सीता को संबोधित किया—

"तुम्हें कैद में रखने वाले अपने शत्रु को मार कर मैंने तुम्हें युद्ध में जीती हुई संपत्ति के रूप में प्राप्त किया है। मैंने अपने स्वाभिमान की रक्षा की और अपने शत्रु को दण्डित किया। लोगों ने मेरी सामरिक सामर्थ्य को देख लिया। मुझे खुशी है कि मेरा श्रम सफल हुआ है। मैं यहां रावण को मारकर अपने अपमान का बदला लेने के लिए आया था। मैंने इतना सारा कष्ट तुम्हारे लिए नहीं उठाया।"

राम ने सीता के साथ जो व्यवहार किया क्या उससे बढ़कर भी किसी निर्दयता की कल्पना की जा सकती है? वह वहीं नहीं रुकते। उनका कथन जारी रहता है—

"मैं तुम्हारे चरित्र के प्रति सशङ्क हूं। तुम्हें रावण ने अवश्य कलङ्कित किया होगा। तुम्हारी शक्ल से ही मुझे घृणा है। हे जनकपुत्री! मैं तुम्हें जहां तुम चाहो वहां जाने की छूट देता हूं। मुझे तुमसे कुछ भी लेना-देना नहीं। मैंने तुम्हें वापिस जीत लिया। मैं इस से संतुष्ट हूं क्योंकि यही मेरा उद्देश्य था। मैं यह सोच नहीं सकता कि तुम्हारे जैसी सुंदरी को रावण ने अछूता छोड़ा होगा।"

बिल्कुल स्वाभाविक तौर पर सीता राम को कमीना कहती है और उसे साफ-साफ बता देती है कि यदि पहली ही बार जब उसने हनुमान को उसके पास भेजा था, उसे यह संदेशा भी भिजवा दिया जाता कि रावण के द्वारा किए गए अपहरण के कारण उसे त्याग दिया गया है, तो वह उसी समय आत्महत्या कर लेती।

बिना राम को कुछ और बहाना बनाने का अवसर दिए सीता ने अपने आपको निर्दोष प्रमाणित करने का निश्चय किया। उसने अग्नि-प्रवेश किया और जैसी की तैसी बाहर

आई। इस साक्षी से संतुष्ट होकर देवताओं ने सीता की पवित्रता की घोषण की। राम तभी उसे अयोध्या ले जाने के लिए सहमत हुआ।

जब राम सीता को अयोध्या ले आए तो वहां उन्होंने उसके साथ क्या व्यवहार किया? यह तो ठीक है कि राम राजा हो गए और सीता रानी हो गई। राम तो राजा बने रहे, थोड़े ही समय के बाद सीता रानी नहीं बनी रही। ऐसा होना राम की बहुत बड़ी बदनामी का कारण हुआ। वाल्मीकि ने अपनी रामायण में ही इसकी चर्चा की है कि राम के राजतिलक के बाद और सीता के पटरानी बन जाने के कुछ ही समय बाद सीता को गर्भ रह गया। यह देखकर कि वह गर्भवती थी, अयोध्या के ही दुष्ट प्रवृत्ति के कुछ लोगों ने यह कहकर कि सीता का यह गर्भ उसके श्रीलंका में रहते समय रावण से हुआ गर्भ है, उसकी बदनामी शुरू कर दी और साथ-साथ ऐसी सीता को अपने घर में रखने के लिए राम को भी भला-बुरा कहने लगे। राम के दरबार में भद्र नाम का एक विदूषक था। उसने राम के अपयश की यह कहानी राम के कानों तक भी पहुंचा दी। राम को अपनी यह बदनामी बहुत बुरी लगी। वह अपने अपमान से बहुत क्षुब्ध हो उठे। ऐसा होना था भी स्वाभाविक। लेकिन इस बदनामी से आत्मरक्षा का जो उपाय राम ने सोचा, वह सर्वथा अनुचित था। इस बदनामी से बचने के लिए सबसे छोटा, सबसे जल्दी कारगर होने वाला रास्ता अपनाया—सीता का परित्याग। एक स्त्री को जो गर्भिणी थी, उसे जंगल में छोड़ देना, जहां उसकी कोई सखी या सखा नहीं, जहां उसके पास कोई खाद्य-सामग्री भी नहीं थी और जिसे उसकी कोई सूचना भी नहीं थी, भयानक विश्वासघात! इसमें कोई संदेह नहीं कि राम के सीता-परित्याग की बात ठीक मौके पर सूझी हुई आकस्मिक सूझ नहीं थी। इस विचार की उत्पत्ति, इस विचार का स्थिर होना, इस विचार का कार्यरूप में परिणित होना इसकी अपेक्षा रखता है कि उसकी विस्तृत चर्चा की जाए। जब राम को भद्र की मार्फत उस बदनामी की जानकारी मिली, जो नगर में उनकी हो रही थी, तो राम ने अपने भाइयों को बुलवाया और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। उसने अपने भाइयों को कहा कि सीता की पवित्रता श्रीलंका में ही प्रमाणित हो चुकी है। और कि देवताओं ने भी इसकी गारंटी दी है, और कि वे स्वयं सीता को सर्वथा निर्दोष मानते हैं। "इतना होने पर भी जनता मेरी बदनामी कर रही है और मुझे लज्जित होना पड़ा रहा है। कोई भी इस प्रकार के अपमान को सहन नहीं कर सकता। प्रतिष्ठा बहुत बड़ी संपत्ति है। देवता तथा महापुरुष सभी इसे बनाए रखने की कोशिश करते रहे हैं। मैं इस अपमान और बदनामी को सहन नहीं कर सकता। मैं तुम्हारा भी परित्याग कर सकता हूं। यह मत समझना कि मैं सीता का परित्याग नहीं कर सकता।"

इससे प्रकट होता है कि इस बात का बिना विचार किए कि ऐसा करना धर्म है या अधर्म, राम ने जनता द्वारा की जा रही बदनामी से अपने आपको बचाने के लिए सरलता का रास्ता अपनाने का निश्चय किया—सीता को त्याग देना। सीता के अपने जीवन का कोई मूल्य न रहा। उसने इस 'गप' को रोकने का मरदाना रास्ता नहीं अपनाया, एक राजा

होने के कारण वह ऐसा करने में समर्थ था और पति होने के कारण उसे ऐसा ही करना चाहिए था। वह जनता के प्रवाद के सामने झुक गया। ऐसे लोगों की कमी नहीं है कि जो राम के इस आचरण को राम का जनतांत्रिक होना कहते फिरते हैं। तो क्या यह राम की दुर्बलता और कायरता की भी बानगी नहीं है? यह कुछ भी हो, अपनी इस पैशाचिकता से वह अपने भाइयों को परिचित कराता है, लेकिन उस अकेली सीता को नहीं जो उससे प्रभावित होने वाली थी और जिसका अधिकार था कि उसे इसकी जानकारी हो। उसे पूर्ण रूप से अंधेरे में रखा गया। राम अपनी इस योजना को एक गोपनीय रहस्य बनाकर छिपाए रखता है और ऐसे मौके की प्रतीक्षा में था कि वह अपनी योजना कार्यान्वित कर सके।

आखिर सीता के निर्दयी दुर्भाग्य ने राम को ऐसा अवसर दे ही दिया कि वह अपनी मनचाही कर सके। गर्भवती स्त्रियां गर्भिणी रहने की अवस्था में तरह-तरह की कामनाएं करती हैं। राम को इसकी जानकारी थी। एक दिन उसने सीता से पूछा—क्या किसी चीज के लिए बलवती इच्छा है? उसने कहा—हां। किस चीज की कामना है? उसने कहा कि कम-से-कम एक रात के लिए सही, वह गङ्गा के किनारे ऋषि-आश्रम के पास फल-मूल खाकर रहना चाहती है। सीता के इस सुझाव पर राम को अपार खुशी हुई। बोले—'प्रिय! चिंता न करो। मैं देखूंगा कि तुम्हारी यह कामना कल ही पूरी हो जाए।' सीता को लगा कि उसके प्रेमिल पति ने अपनी ईमानदारी का सबूत दिया है। लेकिन राम करते क्या हैं? वे सोचते हैं कि सीता का परित्याग करने का एक अच्छा अवसर उनके हाथ लग गया है। तदनुसार वे अपने भाइयों को बुलवाते हैं और उन पर यह बात प्रकट कर देते हैं कि उन्होंने पूरा निश्चय कर लिया है कि इस अवसर का लाभ उठाकर वे सीता का पूर्ण परित्याग कर देंगे। राम अपने भाइयों से कहते है कि वे उनके मार्ग की बाधा न बनें और यदि उन्होंने ऐसा किया तो राम उन्हें अपना शत्रु समझेंगे। तब वे लक्ष्मण से कहते हैं कि वह अगले दिन सीता को रथ में बिठाकर जंगल में ले जाए और वहां गंगा के किनारे ऋषि के आश्रम के पास उसे छोड़ आए। लक्ष्मण की हिम्मत नहीं हो रही थी कि वह सीता को यह कैसे बताए कि राम ने उसके बारे में क्या निश्चय किया है? लक्ष्मण की कठिनाई समझकर राम ने कहा कि सीता ने पहले से ही इच्छा प्रकट की है कि कम-से-कम एक रात के लिए ही, उसे गंगा के किनारे जंगल में ऋषि-आश्रम के पास फल-मूल खाकर रहने की व्यवस्था कर दी जाए। इस तरह से किसी हद तक लक्ष्मण की घबराहट दूर कर दी। यह षडयंत्र रात के समय रचा गया।

अगले दिन लक्ष्मण ने सुमंत को कहा कि वह रथ में घोड़ों को जोते। सुमंत उसे सूचना देते हैं कि उसने ऐसा कर लिया है। तब लक्ष्मण महल में जाकर सीता से भेंट करते हैं और उसे याद कराते हैं कि उसने जंगल में ऋषि के आश्रम के पास कुछ दिन बिताने की अपनी इच्छा प्रकट की थी और राम ने उसकी पूर्ति का वचन दिया था। लक्ष्मण ने यह भी कहा कि राम ने इस विषय में जो कुछ भी करणीय है, वह सब करने के लिए उसे कहा है। वह रथ की ओर इशारा करता है और सीता को कहता है, ''चलो, हम चलें।''

सीता का मन राम के प्रति कृतज्ञता से भरा था। वह उछलकर रथ में जा बैठी। लक्ष्मण को साथ लिए सुमंत सारथी के साथ वह रथ सुनिश्चित स्थान पर जा पहुंचा। मल्लाहों ने उन्हें गङ्गा पार पहुंचा दिया। लक्ष्मण सीता के पांव पर गिर पड़ा और अपनी आंखों से गरम गरम आंसू बहाते हुए उसने कहा—"हे निर्दोष रानी! मैं जो कुछ कर रहा हूं, मुझे क्षमा करें। मुझे आज्ञा मिली है कि मैं आपको यहां छोड़ जाऊं। लोग राम पर दोषारोपण कर रहे हैं कि उन्होंने आपको अपने घर में क्यों रखा है?"

राम द्वारा परित्यक्त और जंगल में मरने के लिए छोड़ दी गई सीता सुरक्षा के लिए वाल्मीकि के आश्रम में गई, जो नजदीक ही था। वाल्मीकि ने उसे आश्रय दिया और अपने आश्रम में रखा। वहीं समय पाकर सीता ने दो जुड़वे बच्चों को जन्म दिया—लव और कुश। तीनों वाल्मीकि के पास रहते थे। वाल्मीकि ने बच्चों का पालन-पोषण किया और जिस रामायण की उन्होंने रचना की थी, उसे गाना सिखाया। बारह वर्ष तक वे बच्चे वाल्मीकि के आश्रम में रहे। यह आश्रम अयोध्या से तनिक दूर था। यह अयोध्या ही राम की राजधानी थी। इन बारह वर्षों में इस प्रेमिल पिता और पति राम ने इस बात की चिंता नहीं की कि पता लगाए कि सीता जीवित भी है या मर गई है?

बारह वर्ष बाद एक विचित्र तरीके से राम और सीता की भेंट होती है। राम ने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया और सभी ऋषियों को आकर उसमें सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया। किन्हीं ऐसे कारणों से जिनकी जानकारी राम को ही रही होगी, वाल्मीकि को निमंत्रण नहीं भेजा गया। वाल्मीकि का आश्रम अयोध्या से बहुत दूर नहीं था। सीता के दोनों बच्चों को साथ लिए वाल्मीकि स्वेच्छा से उस यज्ञ में जा पहुंचे। उन दोनों बच्चों का उन्होंने यह कहकर परिचय दिया कि वे उनके शिष्य हैं। जिस समय यज्ञ चालू था, दोनों बच्चे लोगों के बीच खड़े होकर रामायण गाया करते थे। राम बड़े प्रसन्न हुए और जब उन्हें पता लगा कि वे सीता की संतान हैं, उन्होंने सीता के बारे में पूछताछ की। तब उन्हें सीता की याद आई। तब भी राम ने क्या किया? राम ने सीता को नहीं बुला भेजा। उन्होंने उन अबोध बालकों को बुलवाया और उनकी मार्फत वाल्मीकि को कहलवाया कि यदि सीता पवित्र और प्रतिव्रत रही है, तो वह भरी सभा में उसकी परीक्षा दे और उसके तथा राम के नाम पर जो धब्बा लगा है, उसे धो डाले। यह तो वह एक बार श्रीलंका में कर चुकी थी। और वही बात तो उसे जंगल में छोड़ आने का निश्चय करने से पहले भी करने को कहा जा सकता था। और अब भी राम की ओर से ऐसा वचन नहीं दिया गया था कि उसकी परीक्षा हो चुकने के बाद राम उसे फिर अपने घर में रखेंगे। वाल्मीकि उसे सभा के सम्मुख लाकर उपस्थित करते हैं। जब सीता राम के सामने खड़ी है, वाल्मीकि राम को ही संबोधित करते हैं—"हे दशरथ पुत्र! यह सीता है, जिसे तुमने जनप्रवाद से भयभीत होकर त्याग दिया था। अब यह, तुम अनुमति दो तो फिर अपनी पवित्रता तथा पतिव्रत धर्म को प्रमाणित करेगी। ये दोनों तुम्हारे जुड़वाँ बच्चे हैं, जिन्हें मैंने अपने आश्रम में पाला है।" राम ने कहा, "मैं जानता हूं कि सीता पवित्र है और

ये मेरे बच्चे हैं। उसने अपनी पवित्रता प्रमाणित करने के लिए श्रीलंका में भी अग्नि परीक्षा दी थी। तभी मैंने उसे अपना पास रखा था। लेकिन यहां के लोगों के मन में अभी भी संदेह है। सीता यहां भी एक परीक्षा दे ताकि ये ऋषि-गण और सभी लोग उसे देख लें।''

जमीन पर आंखें गड़ाए और दोनों हाथ ऊपर जोड़े सीता ने शपथ की–

''क्योंकि मैंने राम के अतिरिक्त किसी परपुरुष का मन में भी चिंतन नहीं किया, हे पृथ्वीमाता! तू फट जा और मुझे विवर दे दे।

''क्योंकि मैंने मन, वचन और कर्म से हमेशा केवल राम को ही प्यार किया है, हे पृथ्वी फट जा और मुझे विवर दे दे।''

जैसे ही सीता ने यह शपथ ली, पृथ्वी माता ने विवर दे दिया और सीता एक स्वर्ण-सिंहासन पर बैठी रहीं और पृथ्वी के विवर में अदृश्य हो गई।

देवताओं ने पुष्प-वर्षा की और लोग मंत्र-मुग्ध की तरह देखते रह गए।

इसका मतलब है कि सीता ने राम जैसे पशु के साथ जीवन बिताने की अपेक्षा आत्म-हत्या करना श्रेयस्कर समझा।

ऐसा था सीता का दुर्भाग्य और ऐसा था भगवान राम का आचरण!

अब मुझे उस राम के बारे में प्रकाश डालने दीजिए जो राजा राम था!

राम को एक आदर्श नरेश कहा जाता है। लेकिन क्या ऐसा कहना यथार्थ पर आश्रित है?

ठीक बात तो यह है कि राम ने कभी राज्य किया ही नहीं। वाल्मीकि के कथनानुसार शासन का सारा कारोबार भरत के जिम्मे था। उसने अपने आपको शासन संबंधी चिंताओं से और अपनी प्रजा के झंझटों से मुक्त रखा था। राजा बन चुकने पर राम के दैनिक जीवन की वाल्मीकि ने बड़ी बारीकी के साथ वर्णन किया है। उसके अनुसार पूरा दिन दो भागों में विभाजित था। पूर्वाह्न और अपराह्न। प्रातःकाल से पूर्वाह्न तक वे पूजा पाठ में या धार्मिक विधियां संपन्न करने में लगे रहते थे। अपराह्न का समय वह बारी-बारी से एक-एक दिन अपने राजदरबारी विदूषकों के साथ और एक दिन जनाने में बिताते थे। जब उनका मन जनाने से ऊब जाता वे राजदरबार के विदूषकों की पंगत में जा बैठते और जब विदूषकों से ऊब जाते, वे फिर जनाने में चले जाते। वाल्मीकि ने इस बात का भी विस्तार से वर्णन किया है कि राम जनाने में अपना समय कैसे बिताते थे। वाल्मीकि के अनुसार भोजन में नाना प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ रहते थे। उनमें मांस, फल और शराब सम्मिलित थी। राम परेहजगार नहीं था। वह डटकर शराब पीता था और वाल्मीकि का कहना है कि वह इसके लिए सचेष्ट रहता था कि सीता उसकी सुरापान की गोष्टियों में उसका साथ दे। वाल्मीकि ने राम के जनाने का जो वर्णन किया है, वह कोई छोटी-मोटी तुच्छ चीज न था। वहां नाचने-गाने के लिए अप्सराएं, उरग और किन्नरियां रहती थीं। दूसरे दूसरे प्रदेशों सें लाई गई सुंदर स्त्रियां भी रहती थीं। इन पीने और नाचने वाली स्त्रियों के बीच राम उठक बैठक करते थे। वे राम को प्रसन्न करती थीं। और राम उन्हें हार पहनाते थे। वाल्मीकि

ने राम को 'स्त्रियों के आदमियों में राजकुमार' कहा है। यह एक दिन की बात न थी। यही राम का दैनिक जीवन था।

जैसा पहले कहा जा चुका है राम ने सार्वजनिक कारोबार में कभी दिलचस्पी नहीं ली। उन्होंने अपने प्राचीन भारतीय राजाओं की उस चर्या का अनुकरण नहीं किया कि लोगों की शिकायतें सुनना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना। वाल्मीकि ने केवल एक ऐसे अवसर की चर्चा की है, जब राम ने व्यक्तिगत तौर पर अपनी प्रजा की शिकायत सुनी और उसे दूर करने का प्रयास किया। लेकिन दुर्भाग्य से वह अवसर अत्यंत दर्दनाक सिद्ध हुआ। उसने अपने ऊपर एक अन्याय को दूर करने की जिम्मेदारी ली। लेकिन ऐसा करते हुए इतिहास का सबसे बड़ा जुर्म स्वयं किया। यह घटना शम्बूक शूद्र की हत्या के नाम से विदित है। वाल्मीकि का कहना है कि राम के राज्य में समय से पहले कभी किसी की मृत्यु नहीं होती थी। लेकिन ऐसा हुआ कि एक ब्राह्मण-बालक की अकाल मृत्यु हो गई। दुखी पिता अपने पुत्र की लाश लेकर राजा राम के महल पर आया और उसे वहां रखकर जोर जोर से रोने और चिल्लाने लगा। वह राम को ही अपने पुत्र की मृत्यु के लिए दोषी ठहराता था। उसका कहना था कि उसके पुत्र की मृत्यु का कारण राम की राज्य-सीमा में ही होने वाला कोई पाप-कर्म होना चाहिए और यदि राजा ने उस पापी को दण्ड नहीं दिया तो स्वयं वह राजा ही अपराधी ठहरेगा। अंत में उसने यह भी कहा कि यदि उसका पुत्र पुनः जीवित न हुआ तो वह वहीं खाना-पीना छोड़कर बैठा रहेगा और अपने प्राण भी त्याग देगा। राम ने अपने आठ विद्वज्जनों की सभा से परामर्श किया। उनमें नारद और दूसरे कई ऋषि गण थे। उन्होंने राम को कहा कि तुम्हारे राज्य में कहीं-न-कहीं कोई शूद्र तपस्या कर रहा होगा और इस प्रकार धर्म को नष्ट कर रहा होगा। तपस्या करना केवल द्विज के लिए विहित माना जाता है। शूद्र का एकमात्र कर्तव्य है द्विज की सेवा करना। राम को विश्वास हो गया कि शूद्र ने तपस्या करना आरंभ करके धर्म का उल्लंघन किया है और यह उसी के पाप-क्रर्म का परिणाम है कि ब्राह्मण बालक की हत्या हो गई है। राम अपने पुष्पक विमान पर सवार हुए और अपराधी की खोज में सारा देहात छान मारा। अंत में सुदूर दक्षिण में, एक जंगल में राम ने देखा कि एक शूद्र तपस्या कर रहा है। राम उस आदमी के नजदीक पहुंचे और सीधा प्रश्न किया कि वह कौन है और क्या कर रहा है? उस आदमी का उत्तर था कि उसका नाम शम्बूक है। वह शूद्र है और वह संदेह स्वर्ग जाने के इरादे से तपस्या में लीन है। राम ने उससे कोई दूसरा प्रश्न नहीं पूछा। उसे किसी प्रकार की चेतावनी आदि भी नहीं दी। अपनी तलवार निकाली और उसका सिर काट दिया। इसमें पूछने-ताछने की बात भी क्या थी? वह शूद्र था और तपस्या कर रहा था। और परमाश्चर्य का विषय है कि ठीक उसी क्षण सुदूर अयोध्या में उस ब्राह्मण के लड़के ने सांस लेना आरंभ किया। वह जी उठा। यहाँ उस जंगल में देवताओं ने राम पर पुष्पवर्षा की। राम ने एक शूद्र को तपस्या न करने देकर उसके स्वर्ग-प्रवेश का रास्ता अवरुद्ध कर दिया था। शम्बूक शूद्र था। उसे ऐसा करने का अधिकारी ही न था। वे देवता भी राम के सामने

प्रकट हुए और राम को ऐसा करने के लिए बधाई दी। उत्तर में राम ने उन देवताओं की याचना की कि वह ब्राह्मण-बालक जी उठे। देवताओं ने राम को सूचित किया कि ब्राह्मण-बालक तो उसी क्षण जीवित हो उठा था, जब राम ने शम्बूक का वध किया था। तब देवता-गण चले गए। राम ने भी प्रस्थान किया। वे ऋषि अगस्त्य के आश्रम में पहुंचे, जो उस जगह से दूर नहीं था। अगस्त्य ऋषि ने भी शम्बूक का वध करने के लिए राम की प्रशंसा की और राम को एक दैवी बाजूबंद भेंट किया। राम तब अपनी राजधानी वापिस चले आए।

ऐसा था राम!

अब कृष्ण की बारी है।

वह महाभारत का प्रधान पात्र है। वास्तविक सच्चाई तो यह है कि महाभारत का मुख्य संबंध कौरवों और पाण्डवों से है। यह दो पक्षों के बीच लड़ी गई उस लड़ाई की कहानी है, जो साम्राज्य के लिए लड़ी गई थी और जिस पर उनके पूर्वजों का अधिकार था। उन्हीं को प्रधान पात्र होना चाहिए था। लेकिन वे नहीं हैं। यह कृष्ण है जो इस महाकाव्य का प्रधान पात्र है। एक थोड़ी विचित्र बात है। लेकिन जो बात इससे भी विचित्र है वह यह कि संभवतः कृष्ण कौरव-पाण्डव के समकालीन हुए ही नहीं। कृष्ण पाण्डवों का मित्र था, जिनका अपना साम्राज्य था। कृष्ण कंस का शत्रु था और कंस का भी अपना साम्राज्य था। यह संभव नहीं मालूम देता कि एक ही समय में ऐसे दो साम्राज्य एक दूसरे के पास-पास रहे हों। दूसरी बात यह कि महाभारत में ऐसा कुछ नहीं है, जिससे यह प्रमाणित हो कि दोनों साम्राज्यों का आपसी संबंध रहा है। ऐसा लगता है कि कृष्ण की कथा और पाण्डवों की कथा के लिए खिचड़ी पका दी गई है ताकि कृष्ण को अपना अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य-कलाप प्रदर्शित करने के लिए बड़ा मंच मिल जाए। इन दोनों कहानियों को व्यास ने जान-बूझकर एकत्र किया है कि वह कृष्ण को अधिक यशस्वी बना सके और उसे सबके ऊपर बिठा सके।

व्यास ने कृष्ण को आदमियों में 'भगवान' बनाया है। इसीलिए उसे महाभारत का प्रधान पात्र बनाया गया है। क्या कृष्ण सचमुच इस योग्य है कि उसे आदमियों में 'भगवान' माना जा सके। कृष्ण के जीवन का संक्षिप्त वर्णन ही इस प्रश्न का सही उत्तर देगा।

कृष्ण का जन्म मथुरा में आधी रात के समय भाद्र महीने की आठवीं तिथि को हुआ। उसका पिता यादव नसल का वासुदेव था। देवक की पुत्री देवकी उसकी माता थी। देवक मथुरा के राजा उग्रसेन का भाई था। उग्रसेन की पत्नी का सौभव के दानव राजा द्रुमिल के साथ अनुचित संबंध था। इस अनुचित संबंध से ही कंस की उत्पत्ति हुई थी। एक तरह से कंस देवकी का चचेरा भाई था। कंस ने उग्रसेन को कैद कर लिया और मथुरा के राज्य-सिंहासन पर अपना कब्जा जमा लिया। या तो नारद से या स्वर्ग लोक से आई देववाणी को सुनकर कंस ने देवकी और उसके छह बच्चों को एक के बाद एक मार डाला। आकाशवाणी हुई थी कि देवकी का आठवां बच्चा उसकी हत्या करेगा। बलराम नाम का

सातवां बच्चा आश्चर्यजनक विधि से देवकी के गर्भ से वासुदेव की दूसरी पत्नी के गर्भ में जा पहुंचा था। जब आठवें बच्चे कृष्ण ने जन्म ग्रहण किया तो उसका पिता उसे छिपाकर यमुना के दूसरे तट पर ले गया। उस समय वहां व्रज के निवासी नंद और उनकी पत्नी यशोदा रहती थीं। यमुना नदी ने उन्हें पार जाने के लिए रास्ता दे दिया। सर्पराज अनन्त ने जब मूसलाधार वर्षा हो रही थी, अपने बड़े फन से बालकृष्ण को सरंक्षण प्रदान किया। यह पहले से ही तय था, वासुदेव ने अपने पुत्र को नंद की सद्यजात लड़की से बदलौवल कर दिया। वासुदेव ने उस महामाया को कंस के सामने ले जाकर उपस्थित किया कि यही मेरी आठवीं संतान है। किंतु वह देवी आकाश में प्रयाण कर गई और जाते-जाते कह गई कि नंद और यशोदा माता जिस बालक का पालन-पोषण कर रहे हैं, वह ही उसका वध करेगा। इसका यही फल हुआ कि कंस ने उस बच्चे को मरवा डालने के अनेक असफल प्रयास किए। इस उद्देश्य से उसके भिन्न-भिन्न रूप में नाना असुरों के ब्रज भेजा। इन असुरों को मार गिराना और वीरता के अनेक कारनामे, जिनका कर गुजरना एक सामान्य बालक के लिए असंभव है, कृष्ण के आरंभकाल के जीवन की मुख्य सामग्री है। उनमें से कुछ कारनामों का उल्लेख महाभारत में भी है। जैसी आशा की जा सकती है, अधिकारी विद्वानों का इन घटनाओं के वर्णन में बड़ा मतभेद है। मैं उनमें से दो-चार ही घटनाओं का उल्लेख करता हूं।

पहली या पहली घटनाओं में से एक है—पूतना का वध। वह कंस की दाई थी और हरिवंश पुराण के अनुसार एक गीध-स्त्री के रूप में और भागवत के अनुसार एक सुंदर स्त्री के रूप में कृष्ण की हत्या करने के लिए भिजवाई गई थी। जैसे उसने दूध पिलाने का बहाना बना अपना विष लगा स्तन कृष्ण के मुंह में डाला, उसने उसका स्तन इतनी जोर से चूसा कि उसके साथ उसका सारा रक्त ही चूस लिया। वह चिल्लाई, गिर पड़ी और मर गई।

कृष्ण ने ऐसा ही एक करिश्मा कर दिखाया जब वह अभी तीन वर्ष का ही था। वह एक गाड़ी को तोड़ डालना था, जो एक आलमारी की तरह काम में आती थी, और जिसमें दूध और दही से भरे बहुत से बरतन लदे थे। हरिवंश पुराण के अनुसार उस शकट में एक असुर छिपा था और उसकी योजना थी कि उस गाड़ी के भार के नीचे ही कृष्ण को कुचल कर मार डाले। जो हो, यशोदा बालकृष्ण को गाड़ी के नीचे खेलता छोड़कर स्वयं यमुना में स्नान करने गई थी। लौटने पर उसे बताया गया कि बाल-कृष्ण ने वह गाड़ी और उसमें रखा सारा सामान तरह-नहस कर डाला था। इस घटना से यशोदा को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह डर गई। इस सबका कोई बुरा परिणाम न हो, इसके बचाव के लिए उसने बहुत से पूजा-पाठ किए।

जब पूतना और शकट के माध्यम से कृष्ण की हत्या कराने के प्रयास असफल हो गए, तो कंस ने एक और असुर को जो कंस का चर-पुरुष भी था, जिसका नाम त्रिवर्त था, कृष्ण का वध करने के लिए भेजा। वह एक पक्षी के रूप में आया और उस दिव्य बालक को उठाकर

ले गया। उस समय कृष्ण केवल एक ही वर्ष का था। लेकिन थोड़ी ही देर में वह मरा हुआ पक्षी जमीन पर आ पड़ा। उसके गले को कृष्ण ने कुचल दिया था।

अगला करिश्मा पास उगे हुए अर्जुन के दो पेड़ों को उखाड़ फेंकना था। उनके बारे में कहा जाता है कि वे दो यक्षों के बदन थे, जो एक शाप के फलस्वरूप इस शक्ल के हो गए थे। उन्हें कृष्ण द्वारा किए गए इसी करिश्मे से मुक्ति मिली थी। जब कृष्ण ने अभी घुटनों के बल रेंगना ही सीखा था और छोटी-मोटी शरारतें करने लगा था, यशोदा ने उसे एक रस्सी लेकर एक लकड़ी की ओखल से बांध दिया था और स्वयं घर का काम-काज करने के लिए बाहर चली गई थीं। जब यशोदा अदृश्य हो गईं कृष्ण ने उस खरल को घसीटना शुरू किया। यहां तक घसीटा कि वह जाकर दोनों वृक्षों के बीचो बीच फंस गई। अभी भी उस भार को खींचते ही रहकर उसने दोनों पेड़ों को जड़-मूल से उखाड़ डाला। बड़ी जोर की आवाज के साथ वे दोनों वृक्ष जमीन पर आ पड़े। बाल-कृष्ण को तनिक भी चोट-चपेट नहीं लगी थी।

इन घटनाओं से नंद भयभीत हो गया। वह सोचने लगा कि वह ब्रज छोड़कर किसी दूसरी वस्ती में जा बसे। जब वह दिशा में विचार कर ही रहा था, तभी वहां भेड़ियों की भीड़ आ गई। उसने वहां पशुओं और आदमियों के लिए खतरा पैदा कर दिया। इससे नन्द का विचार स्थिर हो गया। अपना सारा साजोसामान लेकर नन्द का परिवार ब्रज छोड़ वृन्दावन चला आया। कृष्ण की आयु उस समय केवल सात वर्ष की थी।

इस नयी जगह पर आकर रहना आरंभ करने के बाद कृष्ण ने बहुत से असुर मार गिराए। उनमें से एक था अरिष्ट जो एक बैल की शक्ल बनाकर आया था। दूसरा केसिन था, जो एक घोड़े की शक्ल में आया था। दूसरे और भी पांच थे—व्रजासुर, बकासुर, अघासुर, भौमासुर तथा संखासुर। अन्तिम एक यक्ष था। इन सबसे अधिक चिन्ता करने योग्य कालीय था, सांपों का सरदार। वह सपरिवार यमुना नदी के एक भंवर में रहता था और सारे पानी को जहरीला किया करता था। कृष्ण एक दिन उस कालीय के फन पर जा चढ़े और इतनी जोर से नाचे कि कालीय के मुँह से खून निकल आया। कृष्ण ने उसे मार ही डाला होता, किन्तु उस कालीय की पत्नी के बहुत-बहुत याचना करने पर उसे बख्श दिया। वह अन्यत्र रहने चला गया।

कालीय-मर्दन के बाद वस्त्र-हरण का प्रकरण आता है। पौराणिक कृष्ण के प्रशंसकों तथा पुजारियों के लिए काफी असुविधाजनक। सारा प्रकरण इतना अधिक अश्लील है कि उसकी सामान्य रूप-रेखा को ले बैठना भी कठिन है। लेकिन कृष्ण के संक्षिप्त जीवन चरित्र को जितना संपूर्ण मैं बना सकूं उतना संपूर्ण बनाने के लिए मैं जितने शिष्ट शब्दों में उसकी चर्चा की जा सके, उतने योग्य शब्दों में ही उसकी चर्चा करने जा रहा हूं। कुछ गोपियां किनारे पर अपने कपड़े उतारकर यमुना के जल में स्नान करने चली गई थीं। देश के कुछ हिस्सों में अभी भी यह प्रथा है। कृष्ण ने कपड़े उठाए और उन्हें लेकर नदी के किनारे के एक वृक्ष पर जा बैठे। जब वस्त्र वापिस चाहे तो कृष्ण ने देने से इनकार

किया। कहा—"अपना-अपना वस्त्र लेने के लिए पेड़ के नीचे आओ और अपने-अपने वस्त्र की मांग करो।" ऐसा वे तभी कर सकती थीं कि जब वे नंगी ही पानी से बाहर आतीं और नंगी ही अपने आपको कृष्ण के सामने उपस्थित करतीं। जब उन्होंने ऐसा किया तभी कृष्ण प्रसन्न हुए और उनके वस्त्र उन्हें वापिस मिले। यह कथा भागवत में है।

इससे अगला कृष्ण का करिश्मा था गोवर्धन पर्वत को उठाना। गोप इन्द्र के प्रति प्रतिवर्ष किए जाने वाले अपने उत्सव की तैयारी कर रहे थे। कृष्ण ने उनको कहा कि वे खेतिहर नहीं हैं, वे घुमन्तू जाति हैं, इसलिए उनका वास्तविक धन हैं पशु, पर्वत और जंगल। उन्हें उन्हीं की पूजा करनी चाहिए न कि वर्षा बरसाने वाले इन्द्र सदृश देवताओं की। गोपों को यह बात पट गई। उन्होंने इन्द्र-पूजा का कार्यक्रम त्याग गोवर्धन-पूजा की तैयारी आरंभ की। गोवर्धन उनके पशुधन का संरक्षण करने वाला था। जिस इन्द्र का इस प्रकार अगौरव होने जा रहा था, उसके लिए स्वाभाविक था कि वह क्रुद्ध हो जाए। ग्वालबालों को सजा देने के लिए वह सात दिनों तक लगातार दिन-रात बरसता रहा। कृष्ण ने हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने गोवर्धन पर्वत को उखाड़ा और लगातार सात दिन तक एक छतरी की तरह उसे ग्वाल-बालों के सिर पर धारण किए रहे। इसप्रकार उन्होंने ग्वाल बालों और उनके पशुधन को संरक्षण प्रदान किया। इन्द्र और ऋगवेद के कृष्ण के बीच की ईर्ष्या और इन्द्र तथा सत्पथ ब्राह्मण के विष्णु के बीच की ईर्ष्या का उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं।

कृष्ण का तारुण्य वृन्दावन की तरुण स्त्रियों के साथ अनुचित संबंध की घटनाओं से भरा पड़ा है। यह कृष्ण की रास-लीला कही जाती है। रास एक प्रकार का चक्री नृत्य है, जिसमें नाचने वाले स्त्री-पुरुषों के हाथ एक दूसरे से मिले रहते हैं। देश की जंगली जातियों में यह अभी भी प्रचलित है। कहा जाता है कि कृष्ण को यह रासलीला बहुत अच्छी लगती थी। वह वृन्दावन की गोपियों के साथ नाचते थे और वे गोपियां कृष्ण को बहुत-बहुत चाहती थीं। इन नृत्यों में से एक नृत्य का विस्तृत वर्णन विष्णु पुराण, हरिवंश और भागवत में दिया हुआ है। जितने भी अधिकारी जन हैं, वे गोपियों के कृष्ण-प्रेम को मात्र पवित्रता की संज्ञा देते हैं। उन्हें उन देवियों का वह कामुकता-पूर्ण व्यवहार सर्वथा निर्दोष मालूम देता है। उनके अपने मत के अनुसार कोई भी दूसरा आदमी इसी प्रकार का व्यवहार करता तो वह असह्य है। जहां तक मामले से संबंधित समय का प्रश्न है, ऋतु का प्रश्न है, मधुर संगीत द्वारा स्त्रियों के आकर्षित किए जाने का प्रश्न है, नृत्यों का प्रश्न है, कृष्ण के प्रति गोपियों की कामुकता भरी चेष्टाओं का प्रश्न है—सभी सहमत हैं और एकमत हैं। लेकिन जब विष्णु पुराण इनकी चर्चा करता है तो वह बहुत करके अश्लीलता की सीमा को नहीं छूता। हरिवंश स्पष्ट तौर पर अश्लीलता की ओर कदम बढ़ाए हैं और भागवत ने तो सारी मर्यादा को ताक पर उठाकर रख दिया है और वह तो अश्लीलता में ही मग्न है।

कृष्ण की सभी अनैतिकताओं में सर्वाधिक आपत्तिजनक है—उसका राधा नाम की

गोपी से संबंध । राधा से कृष्ण के कामुकता भरे चरित्र का चित्रण ब्रह्मवैवर्त पुराण ने किया है। राजा रुक्मांगद (?) की बेटी से कृष्ण का विवाह हो चुका था। राधा का विवाह हुआ था ..... से। कृष्ण अपनी विधिवत् विवाहिता बीवी रुक्मणि का परित्याग करते हैं और दूसरे आदमी की पत्नी राधा के साथ पति-पत्नी के रूप में रहते हैं। कृष्ण को इसके लिए कोई अनुताप या पश्चात्ताप भी नहीं होता।

हमें बताया गया है कि जब कृष्ण बारह ही वर्ष का था तभी से वह न केवल योद्धा था, बल्कि राजनीतिज्ञ भी था। चाहे योद्धा की हैसियत से किया गया हो और चाहे राजनीतिज्ञ की हैसियत से किया गया हो, उसका हर कृत्य अनैतिक था। इस क्षेत्र में कृष्ण का पहला पराक्रम था अपने मामा कंस की हत्या करना। ''हत्या की'' यह शब्द विशेष रूप से कठोर प्रयोग नहीं है। यह सत्य है कि कंस ने उसे उत्तोजित कर दिया था, तो भी कंस न किसी युद्ध या लड़ाई में मारा गया और न व्यक्तिगत संघर्ष में। कथा यही है कि भगवान कृष्ण के तरुणाई के कारनामों की बात सुनकर कंस भयभीत हो गया और उसने तय किया कि वह अपने किसी बड़े कसरती पहलवान से कृष्ण का मुकाबला करवा कर उससे कृष्ण की हत्या करा देगा। तदनुसार उसने एक धनुर्यज्ञ की घोषणा की और उसके लिए कृष्ण, बलराम तथा उनके दूसरे गोप-मित्रों को भी निमंत्रण दिया। जो कृष्ण का अनुयायी था और कंस के दरबार में सरकारी अफसर था उस अक्रूर को दोनों को मथुरा ले आने के लिए भेजा गया। वे कंस को मार डालने का पक्का इरादा करके मथुरा आये। कंस ने न केवल उन्हें उत्तेजित किया था, बल्कि दूसरे यादवों को भी। कंस के ही उत्पीड़न से उन्हें मथुरा छोड़कर जाना पड़ा था। उन्होंने एक षडयन्त्र रचा और दोनों भाइयों की सहायता करने का निश्चय किया। मथुरा पहुंचकर उन्होंने अपने ग्वालबालों की वर्दी के स्थान पर कुछ ढंग के कपड़े पहनने का निश्चय किया। उन्होंने कंस के धोबी से कपड़े मांगे, जो उन्हें बाजार में मिल गया था। उनसे उसने अभद्रता का व्यवहार किया। उन्होंने बेचारे धोबी को मार डाला और उसके पास जो कपड़े थे, उनमें से मन चाहे कपड़े पहन लिए। तब उनकी भेंट कुब्जा से हुई, जो कुबड़ी थी, लेकिन साथ ही कंस को इतर-फुलेल देने वाली थी। उनके कहने पर कुब्जा ने उनको चन्दन का लेप लगाया। कृष्ण ने उसके उपकार का बदला देने के लिए उसका कूबड़पन दूर कर दिया। भागवत के अनुसार कृष्ण बाद में भी उससे मिले थे और उससे संबंध स्थापित किया था। भागवत ने सभी कुछ साफ-साफ लिखा है। जो हो, किन्तु इस समय कुब्जा द्वारा सुगन्धित पदार्थ लगाए हुए और फूल बेचने वाले सुदामा द्वारा पुष्पहार पहनाए गए दोनों भाई यज्ञ-स्थल पर जा पहुंचे और यज्ञ के निमित्त तोड़े जाने वाले धनुष को तोड़ दिया। भयभीत कंस ने दोनों भाइयों को मारने के लिए कुबलयपीड़ नाम का हाथी भेजा। कृष्ण ने हाथी का वध कर दिया और यज्ञ-मंडप में प्रवेश किया। वहां दोनों भाइयों का आमना-सामना कंस के चुने हुए पहलवानों से हुआ। उनके नाम है चाणूर, मुष्टिक, तोशलक तथा आन्ध्र। कृष्ण ने चाणूर और तोशलक को मार डाला और बलराम ने शेष दोनों को। छल-कपट से दोनों भाइयों

को मरवा डालने की ओर से जब कंस निराश हो गया तो कंस ने आज्ञा दी कि दोनों भाइयों और उनकी मित्रमण्डली को देशनिकाला दे दिया जाए और उन्हें साम्राज्य से निकाल बाहर किया जाए। उसने यह भी आज्ञा दी कि उनके सभी पशुओं को जब्त कर लिया जाए और वासुदेव, नन्द तथा उसके अपने पिता उग्रसेन का वध कर दिया जाए। तब जिस मंच पर कंस बैठा था, कृष्ण वहां जा चढ़े और उसे बालों से पकड़कर नीचे जमीन पर फेंक दिया और मार डाला। कंस की रोती हुई भार्याओं को सान्त्वाना देने के अनन्तर उसने कंस के लिए राजकीय स्तर की अन्त्येष्टि की जाने की आज्ञा दी। उग्रसेन ने कृष्ण को राज्य समर्पित किया। कृष्ण ने उसी को राजगद्दी पर बिठाया और अपने जिन रिश्तेदारों को कंस ने देशनिकाला दे दिया था उन्हें वापिस मथुरा लौट आने का निमंत्रण दिया।

अगला कथानक मगध सम्राट जरासन्ध और कालयवन के साथ कृष्ण के युद्ध का है। जरासन्ध कंस का जँवाई था। कहा जाता है कि जरासन्ध ने मथुरा पर सत्रह बार चढ़ाई की और उसे हर बार मुंह की खानी पड़ी। किन्तु इस डर से कि शहर पर की गई अट्ठारहवीं चढ़ाई शहर की तबाही का कारण हो सकती है, कृष्ण ने यादवों को गुजरात प्रायद्वीप के पश्चिमी तट पर बसे द्वारका नगर चले जाने को कहा। यादवों के मथुरा से प्रस्थान के अनन्तर जरासन्ध के सुझाव पर कालयवन ने मथुरा का घेरा डाल दिया। जिस समय निःशस्त्र कृष्ण का शहर से भी बाहर पीछा किया जा रहा था, आक्रामक को राजा मुचकुन्द की आंख से निकलने वाली आग ने जलाकर खाक कर दिया। मुचकुन्द एक पर्वत की गुफा में सो रहा था और उसे कृष्ण समझकर कालयवन ने ठोकर मारकर जगा दिया था। कृष्ण ने कालयवन की सेना को पराजित कर दिया। लेकिन जिस समय लूट का माल लेकर द्वारका भागे जा रहे थे, उन्हें जरासन्ध ने जा धरा। लेकिन कृष्ण ने एक पहाड़ी पर चढ़कर शत्रु से अपना संरक्षण कर लिया और बाद में वहां से कूदकर द्वारका जा पहुंचे।

अब कृष्ण का पहला विवाह हुआ। उसने विदर्भ नरेश भीष्मक की बेटी रुक्मणी से विवाह किया। जरासन्ध से परामर्श कर उसका पिता उसका विवाह कृष्ण के संबंधी तथा चेदि के राजा शिशुपाल से करने की तैयारी कर रहा था। लेकिन शादी से एक दिन पहले कृष्ण रुक्मणी को ले भागा। भागवत का कहना है कि रुक्मणी को कृष्ण से प्रेम हो गया था और उसने कृष्ण को एक प्रेम भरा पत्र भी लिखा था। यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती। कृष्ण रुक्मणी के प्रति ईमानदार नहीं रहे। क्रमशः कृष्ण की पत्नियों की संख्या बढ़ने लगी और बढ़ते-बढ़ते वह सोलह हजार एक सौ आठ तक जा पहुंची। बच्चों की गिनती एक लाख अस्सी हजार की गई है। उनकी पत्नियों में प्रमुख थीं आठ, जिनके नाम हैं, (1) रुक्मणी, (2) सत्यभामा, (3) जाम्बवती, (4) कालिन्दी, (5) मित्रबिन्दा, (6) सत्या, (7) भद्रा तथा (8) लक्ष्मना। शेष सोलह हजार और एक सौ रानियों को कृष्ण ने एक ही दिन विवाहा। वे मूलतः प्रागज्योतिष के नरेश नरक के हरम में थीं। इन्द्र के निमन्त्रण पर कृष्ण ने उसे हरा दिया था और उसकी हत्या कर डाली थी। नरक इन्द्र की माता के कानों की

बालियां ले भागा था। युद्ध के बाद जिस समय कृष्ण सत्यभामा को लिए इन्द्र के इन्द्र-भवन में पहुंचे तो इस देवी को इन्द्र का प्रसिद्ध पारिजात पेड़ बहुत अच्छा लगा। अपनी पत्नी को प्रसन्न रखने के लिए कृष्ण को उस देवता से लड़ाई लड़नी पड़ी जिसे कृष्ण ने अभी-अभी उपकृत किया था। यद्यपि इन्द्र देवताओं में प्रमुख था और यद्यपि निकट अतीत में ही कृष्ण ने उसे उपकृत किया था, तो भी उसका और 'परमपिता के अवतार' कृष्ण का कोई मुकाबला न था। उसे मजबूरन अपने प्रिय वृक्ष पारिजात से हाथ धोना पड़ा। वह वृक्ष नन्दनवन से लाकर द्वारका में लगा दिया गया था। कृष्ण ने अपनी प्रमुख आठ पत्नियां किस प्रकार प्राप्त कीं, यह कथा काफी रोचक है। रुक्मिणी की प्राप्ति कैसे हुई, यह बताया जा चुका है। सत्यभामा सत्राजित की कन्या थी। वह एक प्रमुख यादव था। उसने अपनी कन्या कृष्ण को इसीलिए समर्पित कर दी थी क्योंकि वह कृष्ण से भयभीत था और अपने पर कृष्ण की कृपा-दृष्टि चाहता था। जाम्बवती जाम्बवान नाम के एक प्रमुख व्यक्ति की कन्या थी। कृष्ण ने इसके विरुद्ध एक लंबी लड़ाई लड़ी थी, क्योंकि वह एक यादव से बहुमूल्य हीरा ले गया था और उससे वह वापिस लेना चाहता था। जाम्बवान पराजित हो गया था और उसने कृष्ण को अपनी कन्या एक शान्तिभेंट के रूप में समर्पित कर दी थी। कालिन्दी ने कृष्ण को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए बड़ी-बड़ी तपस्याएं की थीं और उसकी तपस्या सफल हो गई थी। मित्रविन्दा भी कृष्ण की भतीजी थी और उसे स्वयंवर के मण्डप से कृष्ण स्वयं भगा ले आए थे। सत्या अयोध्या नरेश नग्नजित की कन्या थी। कृष्ण ने जब नग्नजित के बहुत उद्दण्ड वृषभों को मार डाला था तो कृष्ण को सत्या एक लूट के माल के रूप में प्राप्त हो गई थी। भ्रदा कृष्ण की दूसरी भतीजी थी और सामान्य विधि से ब्याही गयी थी। लक्ष्मना भद्र नरेश बृहतसेन की कन्या थी। उसे भी कृष्ण स्वयंवर मण्डप से उठा लाए थे।

बलराम की बहिन और स्वयं कृष्ण की भी सौतेली बहिन सुभद्रा के साथ अर्जुन का विवाह हुआ। उसमें कृष्ण का अपना हिस्सा ध्यान देने लायक है। घूमते-घूमते अर्जुन प्रभास नामक पवित्र तीर्थ स्थान पर पहुंचा। वहां रैवतक पर्वत पर कृष्ण ने स्वागत किया। अर्जुन वहां सुभद्रा पर आसक्त हो गया और उसने कृष्ण से पूछा कि वह सुभद्रा को कैसे प्राप्त कर सकता है? कृष्ण ने सलाह दी कि एक बहादुर क्षत्रिय की तरह उसे उठा ले जाए। वह स्वयंवर आदि के चक्कर में न पड़े। यादव पहले तो इस विवाह से बहुत क्रुद्ध हुए लेकिन जब कृष्ण ने उन्हें समझाया कि अर्जुन सुभ्रदा के लिए योग्य पति सिद्ध होगा और उसे उठाकर ले जाने में उसने ऐसा कोई काम नहीं किया है, जो एक वीर-पुरुष के उपयुक्त न हो, तो वे उस विवाह के बारे में सहमत हो गए। और बिचारे कर ही क्या सकते थे? कृष्ण ने हमारे जैसे बातें बनाने वालों की तरह केवल जबानी जमा-खर्च नहीं किया था, बल्कि स्वयं ऐसा ही आदर्श उपस्थित किया था।

जिन जरासन्ध और शिशुपाल ने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में गड़बड़ी की थी, उन से कृष्ण कैसे निपटे, यह जानने लायक प्रकरण है। जरासन्ध ने बहुत से राजाओं को कैद

कर लिया था और उन्हें रुद्र की बलि चढ़ाना चाहता था। जब तक जरासन्ध न मारा जाता और जब तक सभी राजागण जरासन्ध के कैद-खाने से छुड़ा न लिए जाते और उन्हें युधिष्ठिर का चक्रवर्ती राजा होना मान्य न होता, तब तक युधिष्ठिर अपने चक्रवर्तित्व का दावा नहीं कर सकता था। ऐसी परिस्थिति में भीम और अर्जुन को साथ लिए कृष्ण जरासन्ध की राजधानी राजगृह पहुंचा। वहां पहुंचकर उसने जरासन्ध को मल्ल-युद्ध के लिए ललकारा। उसने कहा, हम तीनों में से तू किसी भी एक से युद्ध कर सकता है। कोई भी क्षत्रिय इस तरह के चैलेंज को अस्वीकार न कर सकता था। जरासन्ध को लगा कि उसे अपने विरोधी के हाथों मरना ही होगा, इसलिए उसने अपने बेटे सहदेव को पहले से ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया और मल्ल-युद्ध के लिए भीम को चुना। मल्ल-युद्ध तेरह दिन तक चलता रहा। अन्त में जरासन्ध के विरोधी भीम ने उसका काम तमाम कर दिया। जरासन्ध के पुत्र सहदेव को गद्दी पर बिठाकर और बन्धनगार से छूटे राजाओं को युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सहभागी होने का निमंत्रण दे कृष्ण और उसकी मित्र-मण्डली इन्द्रप्रस्थ लौट आई।

धीरे-धीरे राजसूय-यज्ञ सिर पर आ पहुंचा। भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न कर्तव्य और भिन्न-भिन्न जिम्मेदारियां अपने सिर पर लीं। कृष्ण के बारे में लिखा है कि उसने ब्राह्मणों के पैर धोने का काम अपने सिर पर लिया। यह कथन इस बात का प्रमाण है कि या तो महाभारत नहीं तो कम-से-कम यह कथा तो अवश्य अत्यन्त आधुनिक है। क्योंकि प्राचीन समय में जब ब्राह्मणों की श्रेष्ठता स्थापित हो गई थी तब भी क्षत्रियों ने उनकी कभी ऐसी निम्न-स्तर की गुलामी नहीं की। जो हो, जब यज्ञ समाप्त हो गया तो अवसर आया जब युधिष्ठिर को एकत्र हुए राजाओं को, पुरोहितों को और दूसरे पूज्य व्यक्तियों को भेंट-पूजा देनी थी। प्रश्न उपस्थित हुआ तो कि सबसे पहले किसके प्रति गौरव प्रदर्शित किया जाए? युधिष्ठिर ने इस बारे में भीष्म का विचार जानना चाहा तो भीष्म ने उत्तर दिया कि सर्वप्रथम कृष्ण का गौरव किया जाना चाहिए। तदनुसार युधिष्ठिर की आज्ञानुसार सहदेव ने कृष्ण को अर्घ्य समर्पित किया अर्थात् कृष्ण की पूजा की। कृष्ण ने इसे स्वीकार कर लिया। इससे शिशुपाल का पारा गर्म हो गया। उसने कृष्ण के उस गौरव का अधिकारी होने के विरोध में पाण्डवों को गालियां देते हुए कि उन्होंने कृष्ण को गौरव ऐसा क्यों किया और कृष्ण को भी भला-बुरा कहते हुए कि उसने उस गौरव को क्यों स्वीकार किया, एक लंबा भाषण दिया। भीष्म ने कृष्ण के कारनामों की विस्तृत चर्चा करते हुए दूसरा लंबा भाषण दिया और सूचना दी कि कृष्ण साक्षात् भगवान हैं। शिशुपाल फिर खड़ा हुआ। उसने भीष्म के तर्कों का भरपूर खण्डन किया और भरपेट गालियां दीं।

कृष्ण के इधर के जीवन-चरित्र लेखकों का कहना है कि शिशुपाल ने कृष्ण के जितने दोष गिनाए उनमें उनके गोपीसंसर्ग की चर्चा नहीं है। इससे वे यह परिणाम निकालते हैं कि संभवतः जब महाभारत लिखी गई उस समय यह भागवत के गोपी-प्रिय कृष्ण नहीं थे। यह पौराणिक कृष्ण बाद में ही गढ़े गए मालूम देते हैं। जो हो, शिशुपाल के भाषण

के अन्त में, भीष्म को लगने लगा कि शिशुपाल और उसकी मित्र-मण्डली कहीं युधिष्ठिर के यज्ञ को ही न विध्वंस कर दे, इसलिए उसने कहा कि जो मरने के लिए तैयार हो, वह भगवान कृष्ण को युद्ध के लिए ललकारे। ऐसा होने पर शिशुपाल ने कृष्ण को ललकारा और उसके खड़े होने पर शिशुपाल ने कृष्ण की बहुत-सी करतूतें कह सुनायीं। कृष्ण बोले–"अपनी चाची और उसकी मां के कहने पर मैंने शिशुपाल के एक सौ अपराध क्षमा किए हैं, लेकिन मेरे लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग करके उसने मेरा जो अपमान किया है, मैं उसे क्षमा नहीं कर सकता। मैं तुम्हारे सबके सामने इसका काम तमाम करता हूं।" कृष्ण ने अपना चक्र घुमाया और उसका सिर काट डाला।

अब महाभारत युद्ध के समय कृष्ण ने क्या कुछ किया, उसकी समालोचना की जा सकती है। कृष्ण की कुछ करतूतें इस प्रकार हैं–

1. जब सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा ने कृष्ण के मित्र सत्यकि को बहुत हैरान-परेशान किया तो कृष्ण ने अर्जुन को प्रेरणा दी कि वह भूरिश्रवा के हाथ काट डाले। इससे सात्यकि के लिए भूरिश्रवा को मार डालना सरल हो गया।

2. जब सात-सात कौरव योद्धाओं ने मिलकर अकेले अभिमन्यु को घेर लिया था और मार डाला था, अर्जुन ने उनके नेता जयद्रथ को सूर्यास्त से पहले मार डालने की कसम खाई और यदि वह ऐसा न कर सके तो आग में जल मरने का निश्चय किया। जब सूर्यास्त होने को हुआ और तब तक जयद्रथ अभी जीवित ही था, कृष्ण ने एक करिश्मे के तौर पर सूर्य को थोड़ी देर के लिए छिपा दिया। सूर्यास्त हुआ समझ जब जयद्रथ बाहर निकल आया तो कृष्ण ने सूर्य को नंगा कर दिया। अर्जुन जयद्रथ को उसकी असावधानी की अवस्था में मार सका।

3. धार्मिक विधि से द्रोण को कभी भी मार सकने की संभावना से निराश होकर कृष्ण ने पाण्डवों को परामर्श दिया कि वे जैसे भी बने, द्रोण को मरवा डालें। यदि किसी तरह द्रोण के हाथ से उसके शस्त्र छुड़वाये जा सकें तो कृष्ण का कहना था कि वह आसानी से मारा जा सकेगा। ऐसा हो सकता था, यदि उसे यह सूचना दी जाए कि उसका पुत्र अश्वत्थामा मर गया था। भीम ने इस सुझाव पर अमल किया। उसने एक हाथी को जिसका नाम द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा के नाम पर अश्वत्थामा ही रखा था, मार डाला और द्रोण को सूचना दी कि अश्वत्थामा की मृत्यु हो चुकी है। द्रोण कुछ हतोत्साहित हो गया, लेकिन उसने इस बात पर पूरा विश्वास नहीं किया। इस मौके पर उस पर अनेक ऋषियों ने जोर डाला की वह लड़ना छोड़ दे और एक ब्राह्मण को शोभा देने वाले योगाभ्यास को करता हुआ स्वर्गारोहण की तैयारी करे। इसने उस योद्धा को और भी अधिक उत्साहहीन बना दिया। तब उसने प्रामाणिक जानकारी के लिए सत्यवादी युधिष्ठिर की ओर देखा। जब कृष्ण ने देखा कि युधिष्ठिर को असत्य बोलने में हिचकिचाहट हो रही है, तो कृष्ण ने उसे एक लम्बा प्रवचन दिया जिसमें उसने अपने असत्य बोलने के सिद्धान्त का इन शानदार शब्दों में समर्थन किया। वशिष्ठ स्मृति में यह इस प्रकार दिया है–

''शादी-विवाह में, प्रेम-प्रसंग में, जीवन पर खतरा आ जाने पर, जब आदमी की सारी-की-सारी सम्पत्ति नष्ट होने जा रही हो और जब किसी ब्राह्मण के स्वार्थ को हानि पहुंचने जा रही हो, ऐसे पांच अवसरों पर झूठ बोलना पाप नहीं है।'' इससे युधिष्ठिर का सत्य ही बोलने का आग्रह ठण्डा पड़ गया। उसने कहा, ''हां अश्वत्थामा मर गया है।'' और धीरे से कहा, ''न जाने आदमी अश्वत्थामा मरा है, या हाथी अश्वत्थामा मरा है।' यह अन्तिम शब्द द्रोण के कान में नहीं पड़े और वह संपूर्ण रूप से हतोत्साहित हो गया। भीम से कुछ अत्यन्त चुभने वाले शब्द सुनने के अनन्तर द्रोण ध्यान लगाकर बैठ गया। तभी धृष्टद्युम्न ने उन्हें मार डाला।

4. जिस समय द्वैपायन जलाशय के तट पर भीम और दुर्योधन की लड़ाई चालू थी और भीम को कोई सफलता नहीं मिल रही थी, कृष्ण ने अर्जुन की मध्यस्थता से उसे याद दिलाया कि उसने अपने विरोधी की जांघ पर प्रहार करने की सौगन्ध खाई है। तब अपने विरोधी की नाभि के नीचे प्रहार करना धर्म-विरुद्ध माना जाता था। लेकिन, क्योंकि बिना इस प्रकार की अनीति का सहारा लिए दुर्योधन की हत्या न हो सकती थी, कृष्ण ने भीम को वैसा करने का परामर्श दिया और भीम ने वैसा ही किया।

कृष्ण की मृत्यु कृष्ण की नैतिकता पर बहुत प्रकाश डालती है। कृष्ण द्वारका नरेश बनकर मरे थे। यह द्वारका कैसी नगरी थी और किस प्रकार की मृत्यु कृष्ण की प्रतीक्षा कर रही थी?

द्वारका नगरी की स्थापना के समय कृष्ण ने इस बात का ध्यान रखा था कि ''अभागिनों'' को हजारों की संख्या में उस बस्ती में बसाया जाए। हरिवंश पुराण में लिखा है, ''हे वीर! बहादुर यादवों की सहायता से दैत्यों के घर जीत चुकने के अनन्तर, भगवान ने हजारों वाराङ्गनाओं को द्वारका नगरी में बसाया। द्वारका नगरी में आदमियों और विवाहित स्त्रियों तथा वेश्याओं द्वारा नाचे जाने वाले नृत्य और गाए जाने वाले गीतों की भरमार थी। हमें समुद्री सैर का एक वर्णन पढ़ने को मिलता है जिसमें उस प्रकार की स्त्रियां ही मनोरंजन का एक प्रधान साधन थीं। उनके नाचने और गाने से उत्तेजित होकर कृष्ण और बलराम भी अपनी पत्नियों सहित नाचने लगे। दूसरे यादव मुखियों ने, अर्जुन ने और नारद ने भी उनका अनुकरण किया। तब और नई उत्तेजना की तलाश हुई। आदमी और स्त्रियां सभी एक साथ समुद्र में गिर पड़े और कृष्ण के सुझाव पर सभी ने पानी में स्त्रियों के साथ जल-क्रीडा आरंभ की। एक मण्डली के नेता कृष्ण थे और दूसरी के बलराम। वेश्याएं अपने संगीत से मौज-मेले के मजे को द्विगुणित कर रही थीं। इस के बाद खाना-पीना और फिर दुबारा फिर एक विशेष संगीत कार्यक्रम जिसमें नेताओं ने भिन्न-भिन्न वाद्यों को बजा सकने की अपनी योग्यता का प्रदर्शन किया। इस प्रकार यह दिखाई देगा कि ये यादव लोग कैसे मन-मौजी लोग थे। उन्होंने आजकल के ब्राह्मणों के द्वारा दिए गये इस प्रकार के प्रवचनों को कैसी घृणा की दृष्टि से देखा होगा, जो इस प्रकार की पार्टियों और इस प्रकार के नाटकों का समर्थन करते थे। इसी प्रकार के एक उत्सव

में—शरीब पीने के उत्सव में—यादव विनाश को प्राप्त हुए थे। कहते हैं कि यादवों के बच्चों ने ऋषियों के साथ कोई बचकाना मजाक किया था और इस प्रकार ऋषियों को क्रोधित कर दिया था। लड़कों ने कृष्ण के बेटों में से सम्बक नाम के लड़के को औरत का वेष पहनाया और उसकी नाभि के नीचे लोहे का मूसल बांध दिया और तब ऋषियों से पूछा कि यह 'औरत' कैसी सन्तान को जन्म देगी? लड़के को या लड़की को? क्रुद्ध ऋषियों ने कहा कि यह 'औरत' लोहे के एक मूसल को जन्म देगी जो यादवों के विनाश का कारण बनेगा। इस अभिशाप के निकृष्टतम् परिणामों से डरकर लड़कों ने उस लोहे के मूसल को समुद्र के किनारे ले जाकर उसे चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। लेकिन इसके कण एक प्रकार के सरकण्डों के रूप में फिर प्रकट हो गए। इसका अन्तिम बचा हुआ टुकड़ा, जिसे लड़कों ने समुद्र में फेंक दिया था, मिल गया था। वह एक शिकारी के तीर का अन्तिम छोर था। अब यादवों ने इन्हीं एरनों से अपने आपको नष्ट किया। वे बहुत बड़ी संख्या में प्रभास नाम के तीर्थस्थल पर गए थे। वे वहां शराब पीने लगे। यही शराब उन के विनाश का कारण बनी। कृष्ण और दूसरे नेताओं को जब पीने के दुष्परिणामों का पता लगा तो उन्होंने सूचनाएं देकर इसका पीना निषिद्ध ठहराया। पीने को मृत्यु-दण्ड दिए जाने योग्य अपराध घोषित किया। लेकिन इस निषेध का कुछ भी परिणाम नहीं हुआ। शराब के नशे में मस्त यादव पहले आपस में झगड़े और बाद में लड़ते हुए एक दूसरे को जान से मारने लगे। जब कृष्ण के अपने बच्चे भी मरे तो वह भी लड़ने भिड़ने में शामिल हो गए और अपने बहुत से लोगों को मार डाला। तब वे बलराम की तलाश में गए। उन्होंने बलराम को ध्यान-रत पाया और देखा कि उसका आत्मा एक सर्प, शेष नाग की शक्ल में उसके देह को त्याग रहा है। कृष्ण को लगा कि अब उनके लिए भी प्रस्थान का समय आ गया है। उसने अपने पिता और अपनी पत्नियों से विदा ली। उन्हें बताया कि उसने अर्जुन को बुला भेजा है, जो कि उनकी जिम्मेदारी लेगा। तब वे एक छायादार वृक्ष के नीचे बैठ, जिसके शाखाओं ने उनके शरीर को ढंक लिया था और ध्यान में मग्न हो गए। जब वे इस प्रकार ध्यान मग्न में बैठे थे, एक शिकारी ने गलती से हिरन समझकर उन पर एक तीर दाग दिया, जिसका सिरा उसी मूसल के मारक सिरे का बना था। जब उसे अपनी गलती मालूम हुई, वह कृष्ण के चरणों पर गिर पड़ा। कृष्ण ने उसे क्षमा कर दिया। वह चारों दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ स्वर्ग-लोक सिधार गया।

अर्जुन आया और हस्तिनापुर चला गया। वह अपने साथ बचे-खुचे यादवों को भी ले गया। अब उसकी मेधा और उसकी अद्‌भुत सामर्थ्य ने उसका साथ छोड़ दिया था। केवल लाठियों से लैस बहुत से अहीर आए। उन्होंने अर्जुन के सगे-साथियों पर आक्रमण किया और उसके लोगों में से बहुत-सी औरतों को लूट कर ले गए। अर्जुन कुछ थोड़े से अवशिष्ट लोगों के साथ हस्तिनापुर जा पहुंचा। अर्जुन के विदा होने पर समुद्र ने द्वारका को निगल लिया। अब यादवों के यश, उनके घरेलू झगड़ों और उनके मन-मौजी जीवन की कहानी सुनाने के लिए कुछ भी अवशेष नहीं बचा।

(यहां मूल अंग्रेजी ग्रन्थ में छपी हुई संदर्भ सामग्री की सूची जैसी-की-तैसी दी जा रही है। इस सारी सामग्री का उपयोग ग्रन्थ के लेखक बाबा साहेब ने अपनी किताब के लिए किया था।)

संदर्भ-सामग्री

The books and journals listed here include the works cited by the author. The details about the publications have been sorted out from the Asiatic and the Bombay University libraries. Further detalis could not be sought for want of time before the releases of this book. Ed.

— Abhayadevasuri : Commentary of Bhagavati Sutra

— Aufrecht, Prof.: Katyayana's Srauta Sutras : Reading of the Veda in one's own Sakhas

— Avalon, Arthur : principles of Tantra

— Bohtlingk, Otto and Roth, Rudoiph : Sanskrit worterbuch: (St. Petersburg, Buchdruckereii Der Kaiservehen Akademic Der Wissnes Chaften, 1865)

— Belvalkar, Shripad Krishna : Vedanta Philosophy (Basu-Mallik, Lectures, University of Calcutta, Poona 1929)

— Bhava Raju, Vyankat Krishna Rao : Early Dynasties of Andhra Desha.

— Blackquiere. W.C. : Asiatic Researches Volume.

— Colebrooke : Miscellaneous Eassay, Vols I-II (Madras, Hingginbotham & Co., 1872)

— Dandeark, Prof. : Vishnu in the Vedas

— Dewey, John : Democracy and Education (New York, Macmillan 1916)

— Dutt, R.C. : Civilization in Ancient India (1888, Chronology of Ancient India)

— Eggeling, Julius : Satapatha Brahamana, Part I-V (London Sacred Books of the East, Oxford 1885)

— Hopkins, E.Washerman : The Great Epics of India (New York, Charies Scribner's Son. 1901)

— Jaiswal : Hindu Poltty

— Kane, P.V. : Paper on Kali Varjya : History of Dharma Shastra

— (Ancient And Medieval Religious and Civil Law), Vol. I

— Law, B.C.: The Magadha in Ancient India (The Royal Asiatic Society, London 1946);

— Kshatriya Clans in Buddhist India with a forword by the Hon'ble Sir Asutosh Mookerji (Calcutta 1922)

— Max Muller : The Satapatha Brahmanas, Part 1-5tr. by J. Eggeling, Sacred Books of the East Series, Vols, 12, 26 43 & 48 ed. by F. Max Muller (Oxford 1885, 1894, 1897, 1900)

— Mayne : Hindu Law and Usage

— Medhatithi : Commentary on Manu, Ed. by V.N. Mandlik (Bombay 1886)

— Mitra, Rajendralal : Indo Aryans : Constitutions towards the elucidation of their ancient and medieval History (W.Newman & Co. Calcutta 1881)

— Moore, Edward : Hindu pantheon (London, W.O. Simpson, 1810) Muir, J : Original

— Sanskrit Texts (Vol. I-Iv, London Trubner & Co., 57 & 59, Ludgate Hall, 1873-IIEd.)

— Mukerjee, Radha Kumud : Ancient India Education (Brahmanical & Buddhist) (London, Macmillan & Co. 1947)

— Rangacharya, Mr. : The Yugas, A Question of Hindu Chronology, Sham Shastri : Drapsa, The Vedic Cycle of Eclipses

— Weber, Albrecht : Indische Studien, (Berlin 1868-69)

— Wilson : Vishnu Puran (Essays on Sanskrit Literature). A system of Hindu mythology and tradition, ed. Fitz Edward Hall, Vol. 1-5 (London, Trubner & Co., 1864)
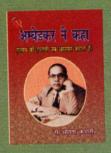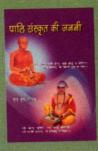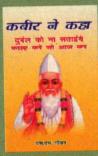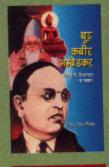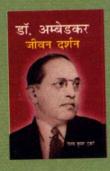
गौतम बुक सेन्टर

प्रकाशक एवं वितरक

C-263 A, 'चन्दन सदन', हरदेवपुरी,
शाहदरा, दिल्ली-110093
फोन : 55822074, 22570380